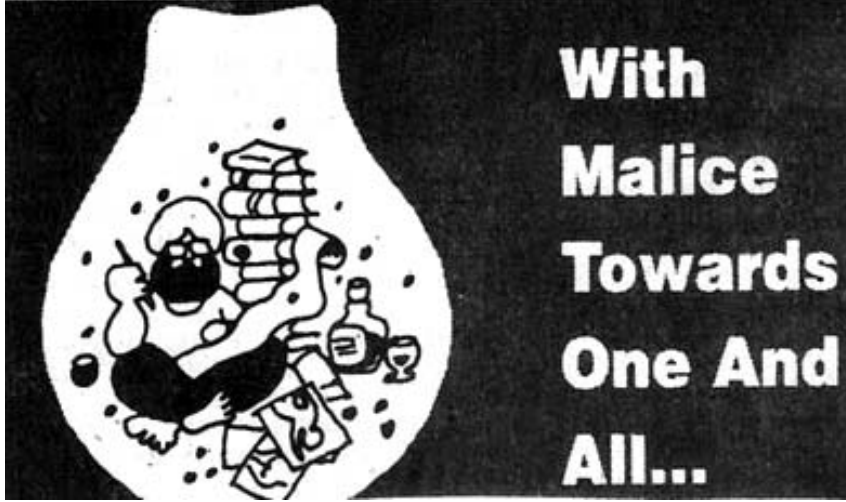


समरथ



जनवरी-फरवरी 2012 • नई दिल्ली



मारियो मिरांडा
मई-1926—दिसंबर-2011



नाहि तो जनम नसाई

पिछले दिसंबर के अंतिम सप्ताह में इलाहाबाद में पाकिस्तान-इंडिया पीपुल्स फोरम फॉर पीस एंड डेमोक्रेसी का संयुक्त अधिवेशन हुआ। पिछले कई वर्षों से ऐसे अनेकों प्रयास होते आए हैं। जबकि दोनों देशों के आम लोग यह अच्छी तरह समझते हैं कि देश की सीमाओं के अतिरिक्त हममें एक-दूसरे के विरुद्ध नफरत पालने के कोई बहुत बड़े आधार नहीं हैं और समानताएं उतनी ही हैं जितनी भारत की सीमा में रहने वाले दो प्रदेशों के बीच या पाकिस्तान की सीमा में रहने वाले दो सूबों के बीच। फिर भी राजनैतिक उथल-पुथल इस नफरत को कम नहीं होने देती। इस संयुक्त अधिवेशन के मद्देनज़र यहां प्रस्तुत तीन कविताएं कितनी प्रासंगिक हैं इसे आप स्वयं देख सकते हैं।

गुज़र गए कई मौसम

■ अहमद फ़राज़

गुज़र गए कई मौसम, कई रुतें बदलीं
उदास तुम भी हो यारों उदास हम भी हैं
फ़क़त तुम्हीं को नहीं रंज-ए-चाक दामानी¹
जो सच कहें के दरीदा² लिबास हम भी हैं

तुम्हारे बाम की शम्ओं³ भी ताबनाक नहीं
मेरे फ़लक के सितारे भी ज़र्द-ज़र्द से हैं
तुम्हारे आईना ख़ाने भी जंग आलूदा
मेरे सुराही-ओ-सागर भी गर्द-गर्द से हैं

न तुमको अपने खदो खाल⁴ ही नज़र आये
न मैं ये देख सकूँ जाम में भरा क्या है
बसारतों⁵ पे वो जाले पड़े के दोनों को
समझ में कुछ नहीं आता के माजरा क्या है

न सर में वो गुरुर-ए-कशीदा⁶ कामती है
न कुमरीयों⁷ की उदासी में कुछ कमी आई
न खिल सके किसी जानिब मोहब्बतों के गुलाब
न शाखे अमन लिए फाख़ता कोई आई

तुम्हें भी ज़िद है के मश्के सितम रहे जारी
हमें भी नाज़ कि जौरो जफ़ा⁸ के आदी हैं
तुम्हें भी ज़ोम महाभारता लड़ी तुमने
हमें भी फ़ख़ के हम करबला के आदी हैं

सितम तो ये है के दोनों के मर्गज़ारों⁹ से
हवा-ए-फ़ितना-ए-बूए फ़साद आती है
सितम तो यह है कि दोनों को वहम है के बहार
उदु¹⁰ के खुं में नहाने के बाद आती है

सो ये मआल हुआ इस दरिंदगी का के अब
तुम्हारे पांव सलामत रहे न हाथ मेरे
न जीत जीत तुम्हारी न हार हार मेरी
न कोई साथ तुम्हारे न कोई साथ मेरे

हमारे शहरो की मजबूर बेनवा मखलूक
दबी हुई है दुखों के हज़ार ढेरों में
अब उनकी तीरह नसीबी¹¹ चिराग चाहती है
जो लोग निस्फ¹² सदी तक रहे अंधेरों में

चिराग जिनसे मुहब्बत की रौशनी फैले
चिराग जिनसे दिलो के दयार रौशन हों
चिराग जिनसे ज़िया अमन-ओ-आनगी की मिले
चिराग जिनसे दिये बेशुमार रौशन हों

तुम्हारे देश में आया हू दोस्तों अबके
न साज़-ओ-नग़म: की महफिल न शायरी के लिए
अगर तुम्हारी अना का ही है सवाल तो फिर
चलो में हाथ बढ़ाता हूँ दोस्ती के लिए

अहमद फ़राज़ के नाम

■ अली सरदार जाफ़री

चलो मैं हाथ बढ़ाता हूँ दोस्ती के लिए

-फ़राज़

तुम्हारा हाथ बढ़ा है जो दोस्ती के लिए
मिरे लिए है वो इक-यारे-गमगुसार का हाथ
वो हाथ शाखे-गुले-गुलशने-तमन्ना है
महक रहा है मिरे हाथ में बहार का हाथ

खुदा करे कि सलामत रहें ये हाथ अपने
अता हुए हैं जो जुल्फें सँवारने के लिए
ज़मीं से नक्श मिटाने को जुल्मो-नफ़रत का
फ़लक से चाँद-सितारे उतारने के लिए

ज़मीने-पाक हमारे जिगर का टुकड़ा है
हमें अज़ीज़ है देहली-ओ-लखनऊ की तरह
तुम्हारे लहजे में मेरी नवा का लहजा है
तुम्हारा दिल है हसीं मेरी आरजू की तरह

करें ये अहद कि औज़ारे-जंग जितने हैं
उन्हें मिटाना है और खाक में मिलाना है
करें ये अहद कि अबबि-जंग हैं जितने
उन्हें शराफ़तो-इन्सानियत सिखाना है

जिएँ तमाम हसीनाने ख़ैबरो-लाहौर
जिएँ तमाम जवानाने-जन्नते-कश्मीर
हो लब पे नग्मःए-मेहरो-वफ़ा', की ताबानी',
किताबे-दिल पे फ़कत हर्फ़े-इश्क़ हो तहरीर

“तुम जाओ गुलशने-लाहौर से चमन-बर-दोश”,
हम आएँ सुब्हे-बनारस की रौशनी लेकर
हिमालया की हवाओं की ताज़गी लेकर
और उसके बाद ये पूछें कि कौन दुश्मन है?”

तुम बिल्कुल हम जैसे निकले...

■ फ़हमीदा रियाज़

तुम बिल्कुल हम जैसे निकले
अब तक कहाँ छिपे थे भाई
वो मूरखता, वो घामड़पन
जिसमें हमने सदी गंवाई
आखिर पहुँची द्वार तुम्हारे
अरे बधाई, बहुत बधाई।
प्रेत धर्म का नाच रहा है
कायम हिंदू राज करोगे?
सारे उल्टे काज करोगे!
अपना चमन ताराज़ करोगे!
तुम भी बैठे करोगे सोचा
पूरी है वैसी तैयारी
कौन है हिंदू, कौन नहीं है

तुम भी करोगे फ़तवे जारी
होगा कठिन वहाँ भी जीना
दाँतों आ जाएगा पसीना
जैसी तैसी कटा करेगी
वहाँ भी सब की साँस घुटेगी
माथे पर सिंदूर की रेखा
कुछ भी नहीं पड़ोस से सीखा!
क्या हमने दुर्दशा बनाई
कुछ भी तुमको नजर न आयी?
कल दुख से सोचा करती थी
सोच के बहुत हँसी आज आयी
तुम बिल्कुल हम जैसे निकले
हम दो कौम नहीं थे भाई।
मश्क़ करो तुम, आ जाएगा
उल्टे पाँव चलते जाना
ध्यान न मन में दूजा आए
बस पीछे ही नज़र जमाना
भाड़ में जाए शिक्षा-विक्षा
अब जाहिलपन के गुन गाना।
आगे गढ़ा है यह मत देखो
लाओ वापस, गया ज़माना
एक जाप सा करते जाओ
बारम्बार यही दोहराओ
कैसा वीर महान था भारत
कैसा आलीशान था भारत
फिर तुम लोग पहुँच जाओगे
बस परलोक पहुँच जाओगे
हम तो हैं पहले से वहाँ पर
तुम भी समय निकालते रहना
अब जिस नरक में जाओ वहाँ से
चिड़्डी-विट्ठी डालते रहना।

शब्दार्थ :

गुज़र गए कई मौसम-1. फटा हुआ दामन; 2. चिथड़े; 3. दमकदार; 4. नाक नक्शा; 5. नज़र, 6. बड़े कद का घमंड, 7. चिड़ियों, 8. प्रताड़ना, 9. गुलिस्तां, 10. दुश्मन, 11. अंधेरे में पला नसीब; 12. आधी

अहमद फ़राज़ के नाम-1. स्नेह और आत्मीयता के गीत; 2. आभा, तेज; 3. वसंत को साथ लिए हुए।

पाकिस्तान इंडिया पीपुल्स फोरम फॉर पीस एण्ड डेमोक्रेसी 8वां संयुक्त अधिवेशन : जनता के संवाद का एक और पड़ाव

हड़प्पा से लेकर भगतसिंह की शहादत की साझी विरासत को समर्पित 'कबीर-खुसरो नगर'-जी यही नाम था उस छोटे से शहर का जो ऐन इलाहाबाद के दिल में तीन दिनों के लिये बसाया गया था - मौका था पाकिस्तान इण्डिया पीपुल्स फोरम फॉर पीस एण्ड डेमोक्रेसी (PIPFDP) के 8वें संयुक्त अधिवेशन (29-31 दिसम्बर 2011) का। दिसम्बर की गुनगुनी धूप जो कि पूरे अधिवेशन पर लगातार मेहरबान रही की गर्माहट लेकर जैसे ही 29 दिसम्बर की सुबह कबीर-खुसरो नगर में चहल-पहल शुरू हुई लगा जैसे 6 साल से स्थगित एक सिलसिला फिर शुरू हो गया है। इसके साथ ही शुरू हुआ भावनाओं, विचारों, संवाद और कलात्मक संवाद का एक जश्न जो तीन दिन तक चलता रहा और जिसकी आँच लंबे समय तक महसूस की जाती रहेगी।

असमंजस, तैयारियां और माहौल

पिछले कई महीनों से अधिवेशन को लेकर असमंजस चला आ रहा था। पाकिस्तानी साथियों के लिये वीजा हासिल करने की कवायद जारी थी और सफलता नहीं मिल रही थी। इस वजह से कई बार अधिवेशन को टालना भी पड़ा लेकिन (PIPFDP) की राष्ट्रीय समिति और यू.पी. चैप्टर के लगातार प्रयास से आखिरकार वीजा मिल गया और लगातार आशा निराशा के बीच कई महीने झूलने के बाद संगठन के सदस्य अधिवेशन की तैयारियों में जुट गये। यह आयोजन न केवल पाकिस्तान और भारत के लिये, (PIPFDP) के लिये बल्कि इलाहाबाद के लिये भी बहुत अहम था। दोनों मुल्कों और संगठन के लिये इसलिये कि पिछले छह साल से संयुक्त अधिवेशन का सिलसिला रुक गया था, संवाद की एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया स्थगित थी और इलाहाबाद के लिये इसलिये कि यह शहर इस तारीखी मंज़र का गवाह बना। आज यह अधिवेशन इलाहाबाद की तहजीबी रवायत का एक हिस्सा बन चुका है। इलाहाबाद के नागरिकों, विद्यालयों एवं सामाजिक-राजनीतिक संगठनों के अभूतपूर्व सहयोग से यह एक साझा कार्यक्रम के रूप में उभरा। इसी सहयोग का नतीजा था कि अधिवेशन के लिये सेन्ट जोसेफ कॉलेज का खूबसूरत परिसर हमें आयोजन स्थल के रूप में मिला। इस परिसर को और खूबसूरत बना दिया डॉ. अजय जेतली की परिकल्पना ने। कबीर-खुसरो नगर की पूरी बनावट कलात्मक एवं व्यावहारिक रूप से इस तरह

की गई थी कि इसमें आने वाला हर शख्स अधिवेशन की रूह से फौरन जुड़ जाता था। अधिवेशन स्थल मुख्य सभागार, समानान्तर चर्चा सत्रों के लिये निर्मित कक्षों, कला गैलरी, मीडिया गैलरी, फूड कोर्ट, हस्तकला और किताबों की स्टाल से सजा हुआ था। सभी कक्षों एवं गैलरी का नाम ऐसी शख्सियतों के नाम पर दिया गया था जो पाकिस्तान एवं भारत दोनों की जनता के साझे जीवन के प्रतीक बन गये हैं। बाबा बुल्लेशाह, शहीद चन्द्रशेखर आज़ाद, शहीद रोशन सिंह, मंटो, प्रेमचन्द, बेगम अख्तर, मौलवी लियाक़त अली, मलिका-ए-तरत्रुम नूरजहाँ कुछ ऐसे ही नाम हैं। और हाँ इस पूरे कार्यक्रम की रौनक की बात अधूरी रह जाएगी अगर हम फूड कोर्ट की सरगर्मियों को छोड़ दें तो। तीनों दिनों का खाना भारत की रंग-बिरंगी रवायत की बानगी था जिसने मेहमानों को वाह-वाह करने पर मजबूर कर दिया। अधिवेशन का एक महत्वपूर्ण पक्ष था बड़ी संख्या में कार्यकर्ताओं की भागीदारी जिसने इस आयोजन को बहुत सरल बना दिया। PIPFDP के सक्रिय साथियों के अतिरिक्त कैरियर कोचिंग का स्टाफ, बाल भारती स्कूल के शिक्षक और विद्यार्थी, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के विद्यार्थी तथा विभिन्न संगठनों जैसे प्रगतिशील लेखक संघ, संयुक्त ट्रेड यूनियन समन्वय समिति, शहरी ग़रीब संघर्ष मोर्चा, स्त्री अधिकार संगठन, आज़ादी बचाओ आन्दोलन, समानान्तर थियेटर ग्रुप, इन्स्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी, एक्टू, जनसंस्कृति मंच, इतिहासबोध मंच जैसे तमाम संगठनों की पहलकदमियों की वजह से ही यह आयोजन न केवल सफल हुआ बल्कि मानीखेज भी बना। बार एसोसिएशन से लेकर व्यापार मंडल और इण्डियन मेडिकल एसोसिएशन से लेकर नगर के तमाम नागरिकों, बुद्धिजीवियों और पत्रकारों ने अपना नैतिक और भौतिक समर्थन अधिवेशन को दिया जो कि हमारी बहुत बड़ी उपलब्धि थी। मीडिया ने जिस तरह इस पूरे कार्यक्रम को अपना सहयोग दिया उससे PIPFDP को अपने उद्देश्यों और सिद्धान्तों का प्रचार करने में बहुत मदद मिली। इस पूरे अधिवेशन की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी 'गंगो-जमन' का प्रकाशन। कार्यक्रम के पूरे तीन दिन कार्यक्रम स्थल का एक अपना बुलेटिन 'गंगो-जमन' नाम से प्रकाशित हुआ। दिन-रात मेहनत करते हुये, लगातार बातचीत और लेखन के द्वारा तीनों दिन रातों-रात हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी में बुलेटिन प्रकाशित हुए। इस बुलेटिन ने अधिवेशन के माहौल को बौद्धिक स्वरूप प्रदान किया। वरिष्ठ

बुद्धिजीवियों और नौजवान विद्यार्थियों की टीम ने मिलकर यह कारनामा अंजाम दिया। अधिवेशन के माहौल की पूरी तस्वीर तब तक नहीं उभरती जब तक कि इलाहाबाद स्टेशन पर पाकिस्तानी साथियों के इस्तकबाल में उमड़ी भीड़, नगाड़ों की आवाज़ और नाच का ज़िक्र न किया जाये। पाकिस्तान से आये साथियों और इलाहाबादी मेज़बानों का गले मिलना, आँसू और थिरकन लंबे समय तक बहुतों के दिल में उमड़ता रहेगा। यह ज़ब्बा पूरे अधिवेशन पर तारी रहा जो अमरुदों के स्वाद और इलाहाबाद की ऐतिहासिक जगहों की यात्रा में भी कदम-बा-कदम चलता रहा। पाकिस्तान का प्रतिनिधि मंडल भी इतनी ही तरह की विभिन्नताओं से भरा था। सिर्फ लाहौर और कराची ही नहीं बल्कि क्वेटा, मुज़फ़राबाद, चतराल, पेशावर, रावलपिंडी, फैसलाबाद जैसी सुदूर जगहों से भी लोग मौजूद थे। अधिवेशन में पूरे दक्षिण एशिया का एक विहंगम स्वरूप उभर कर आ रहा था। अधिवेशन का एक पूर्वराग भी था जो एक दिन पहले यानी 28 दिसम्बर को हुआ। इलाहाबाद के साथी कार्यकर्ताओं और एक दिन पहले आ गये भारतीय प्रतिभागियों के सामने प्रख्यात गायिका नीला भागवत ने फ़ैज़, कबीर और चोखा मेला की रचनाओं को अपनी गायकी से जीवन्त किया। इस कार्यक्रम से यूँ लगा जैसे आयोजन के जिस्म को उसकी रूह मिल गई हो।

पहला दिन : पहली दास्तान

कार्यक्रम की शुरुआत में प्रो. लालबहादुर वर्मा ने अतिथियों का स्वागत किया और इस अधिवेशन की अर्थवत्ता पर रोशनी डाली। कार्यक्रम का संचालन प्रो. अली अहमद फ़ातमी ने किया। कार्यक्रम की शुरुआत 29 तारीख की शाम कथक केन्द्र इलाहाबाद द्वारा प्रस्तुत स्वागत नृत्य से हुई। यह सिलसिला आगे समृद्ध से समृद्धतर होता गया। महमूद फ़ारूकी और दानिश हुसैन ने विभाजन के दर्द को अपनी दास्तान में उकेरा तो नादिरा बब्बर और उनकी 'एकजुट' संस्था ने नाटक के कोलाज 'इक बिरहमन ने कहा है कि ये साल अच्छा है' की प्रस्तुति की। पाकिस्तानी दोस्तों की ट्रेन विलम्ब से आने की वजह से कार्यक्रम का पहला दिन संक्षिप्त था और दूसरे दिन की कार्रवाईयों की घोषणा के साथ समापन हुआ। तीनों दिन के सभी सांस्कृतिक कार्यक्रमों का संयोजन हर्ष नारायण ने किया।

दूसरा दिन : चर्चा, बहस मुद्दे

दूसरे दिन 30 दिसम्बर 2011 की शुरुआत भारती बंधु के निर्गुण गायन से हुई। इस गायन ने मानो वह मंच तैयार किया जिस पर वैचारिक दोस्ती की कार्रवाई आगे बढ़ाई जा सकती थी। शुरुआत में प्रो. ललित जोशी ने केन्द्रीय विद्यालय 'वैश्विक प्रभुत्व और लोकतांत्रिक अधिकारों के समक्ष चुनौतियाँ' को स्पष्ट

किया और उद्घाटन सत्र का संचालन किया। अधिवेशन के लिये विशेष रूप से तैयार की गई स्मारिका का विमोचन कॉमरेड ज़ियाउल हक़ ने किया। संघर्ष की लंबी विरासत सहेजे ज़िया भाई से ज़्यादा इस काम के लिये उपयुक्त व्यक्ति और कौन हो सकता था। उद्घाटन सत्र में स्वागत भाषण अधिवेशन की स्वागत समिति के अध्यक्ष उमेश नारायण शर्मा (अध्यक्ष, इलाहाबाद हाईकोर्ट बार एसोसिएशन) ने किया। इसके बाद PIPFPD के हिन्दुस्तानी चैप्टर के अध्यक्षों वेद भसीन, तपन बोस एवं पाकिस्तानी चैप्टर के अध्यक्ष आई. ए. रहमान एवं शेर मुहम्मद खान ने सत्र को सम्बोधित किया। इन सम्बोधनों में जन-संवाद में आई रुकावट पर चिंता व्यक्त की गई और बदलते हुये दुनियावी हालात में पाकिस्तान और भारत के बीच इस संवाद के महत्व को रेखांकित किया गया। इस सत्र का संयोजन विजयन ने किया। अगला सत्र आधार वक्तव्य का था जिसमें मुख्य वक्ता प्रो. रवि सिन्हा थे। प्रो. सिन्हा मूल रूप से भौतिकविद् हैं लेकिन लंबे समय से सामाजिक-राजनीतिक कर्म के साथ लेखन से भी जुड़े हैं। पिछले कुछ वर्षों में भूमंडलीकरण पर लिखी उनकी पुस्तक चर्चा का विषय रही है। अपने आधार वक्तव्य "Global Capital, Compliant Nation-States and Totalitarian Communities" में प्रो. सिन्हा ने कहा कि आज के वैश्विक प्रभुत्व की रचना भूमंडलीकृत पूँजी की आंतरिक ज़रूरतों से हुई है और राष्ट्र राज्य इस पूरी प्रक्रिया का फरमाबरदार है। लेकिन लोकतंत्र की स्थापना का स्वप्न केवल पूँजी के आतंक और अलोकतांत्रिक राज्य के खिलाफ संघर्ष से ही पूरा नहीं होगा बल्कि हमें पारम्परिक सर्वसत्तावादी समुदाय एवं संस्कृतियों से भी लोहा लेना होगा। इस सत्र की अध्यक्षता प्रो. मनोरंजन मोहान्ती एवं सईदा ज़ेबी ने की। इसके बाद का सत्र रिपोर्टिंग का था। पाकिस्तान के चैप्टर की ओर से संगठन की स्थिति और गतिविधियों की रिपोर्ट पेश की चैप्टर के महासचिव ख्वाजा मुहम्मद वसीम ने और भारत की ओर से यह ज़िम्मेदारी निभाई महासचिव ई. दीनदयालन ने। इस सत्र के आखिर में इलाहाबाद घोषणापत्र के लिये तैयारी समिति की घोषणा की गई। इस समिति में पाकिस्तान की ओर से निगहत सईद खान, ज़मन खान, आसिफ अली और मेहराज हुमायूँ के नाम थे जबकि भारत की ओर से सुमित चक्रवर्ती, उत्पला, अनुराधा भसीन और सुव्रत राजू इसके सदस्य थे। अधिवेशन की वैचारिक-सांगठनिक कार्रवाईयों को चलाने की ज़िम्मेदारी संचालन समिति की थी जिसके सदस्य ख्वाजा वसीम, शाज़िया बलोच और हबीब ताहिर (पाकिस्तान) तथा वासन्ती रामन, रवि हेमाद्री और विजयन एम. जे. (भारत) थे। दोपहर बाद का सत्र समानान्तर चर्चा सत्रों का था। इन सत्रों के लिये पहले से प्रस्तावित विषय-असैन्यीकरण और शांति, कश्मीर के लिये लोकतांत्रिक हल, धार्मिक असहिष्णुता, लोकतांत्रिक प्रशासन तथा वैश्विक एवं क्षेत्रीय सहयोग, महिला,

युवा, श्रमिक, जन आन्दोलन तथा पर्यावरण थे। लेकिन समय की कमी के मद्देनजर इन सभी विषयों को चार शीर्षकों के अन्दर समेटा गया और चार अलग-अलग सत्र संचालित किये गये। ये चारों सत्र इस प्रकार थे- भारत और पाकिस्तान के सामने साझा खतरे और चुनौतियाँ, पूँजी का भूमंडलीकृत प्रभुत्व और जनता के संघर्ष, मानव सुरक्षा तथा कश्मीर के लिये लोकतांत्रिक समाधान। इन सत्रों के संचालन की ज़िम्मेदारी आशा हंस, अनुराधा भसीन, वसन्ती रमन, तपन बोस एवं अशीम रॉय की थी। इन सत्रों के अतिरिक्त बहुत से अनौपचारिक सत्र भी 30 व 31 दिसम्बर, दोनों ही दिन चलते रहे जिसमें सईदा दीप के साथ शांति आन्दोलन पर नौजवानों की चर्चा तथा दोनों ओर के ट्रेड यूनियन कार्यकर्ता, अदीबों एवं अधिवक्ताओं की चर्चाएं शामिल हैं। पाकिस्तानी अधिवक्ताओं का एक प्रतिनिधिमंडल मुख्य न्यायाधीश की दावत पर इलाहाबाद हाईकोर्ट भी गया। वहाँ दोनों ओर के अधिवक्ताओं ने अपनी पहलकदमी पर शांति के लिये तहरीक शुरू करने का ज़िम्मा लिया। शाम का समय फिर एक बार सांस्कृतिक कार्यक्रम को समर्पित था। शाम की शुरुआत प्रसिद्ध गायिका सीमा सहगल द्वारा प्रस्तुत गज़लों से हुई। इसके बाद विख्यात ध्रुपद गायक गुंदिचा बन्धुओं ने अपनी गायकी से शाम को गंभीर मायने दिये।

तीसरा दिन : इलाहाबाद की घोषणा

आखिरी दिन सत्र की शुरुआत प्रो. ज़्याँ ट्रेज़ के विशेष वक्तव्य से हुई। प्रो. ट्रेज़ का वक्तव्य मानवीय सुरक्षा के व्यापक सन्दर्भों की पड़ताल करता था। इस सत्र की अध्यक्ष आई. ए. रहमान ने की। इसके बाद अशोक चौधरी एवं निगहत सईद खान ने न्याय के लिये चलने वाले जन संघर्षों पर अपने वक्तव्य दिये। दोपहर के बाद के सत्रों में एक दिन पूर्व चले समानान्तर चर्चा सत्रों के निष्कर्षों को पेश किया गया। इन निष्कर्षों को शामिल करते हुए तथा सभी सुझावों को सम्मिलित करते हुए 8वें संयुक्त अधिवेशन की इलाहाबाद घोषणा जारी की गई। इस घोषणा में जिन मुख्य बातों पर जोर दिया गया है, वे इस प्रकार हैं :

- दोनों देशों में बढ़ रही सैन्यीकरण और परमाणु होड़ चिन्ताजनक है। यह दोनों देशों में मानवाधिकार के हनन को बढ़ाता है और इसने दक्षिण एशिया में सरकारों का वर्चस्व बढ़ाया है और इनकी साम्राज्यवादी मनोवृत्तियों का प्रसार किया है। अधिवेशन असैन्यीकरण और इस क्षेत्र को परमाणु मुक्त किये जाने का समर्थक है।
- 'आतंक से युद्ध' के नाम पर साम्राज्यवाद अपने पैर पसारता जा रहा है और इसने अलग-अलग देशों में फैलती धार्मिक संकीर्णता से सांठ-गांठ कर ली है। कन्वेंशन इन दोनों ही प्रवृत्तियों के खिलाफ संघर्ष का

आह्वान करता है।

- दोनों देशों में मानवाधिकारों का हनन जारी है चाहे वह पाकिस्तान में की जा रही राजनीतिक हत्याएँ हों या भारत में 'आर्म्ड फोर्सेज स्पेशल पॉवर एक्ट' जैसे कानून हों। अधिवेशन सभी प्रकार के मानवाधिकार हनन का विरोध करता है और विभिन्न प्रकार के जनान्दोलनों का समर्थन करता है।
- अधिवेशन कश्मीर के लोकतांत्रिक समाधान का समर्थन करता है। यह समाधान किसी भी तरह से दोनों ओर की कश्मीरी जनता की इच्छानुसार ही होना चाहिये।
- फोरम में पिछले कुछ वर्षों में जनान्दोलनों और ट्रेड यूनियन जैसे संगठनों की भागीदारी घटी है। अधिवेशन इस कमी को तेज़ गति से पूरा करने का संकल्प लेता है।
- अधिवेशन दोनों ही मुल्कों में लोकतंत्र की मज़बूती, सामाजिक-राजनीतिक न्याय की स्थापना और जनता के मौलिक अधिकारों की सुरक्षा के लिये चल रहे हर प्रकार की पहलकदमियों का समर्थन करता है और इसमें भागीदारी के लिये कृतसंकल्प है। आखिरी दिन की सांस्कृतिक संध्या नृत्य और गायन-वादन से सजी थी। उड़ीसा से आये प्रतिभाशाली बच्चों ने अपने प्रदेश की सांस्कृतिक पहचान के रूप में प्रख्यात 'गोटीपुआ' नृत्य प्रस्तुत किया। कार्यक्रम का समापन कमाल साबरी ने किया उन्होंने सारंगी पर लोक धुनें प्रस्तुत की और 'पधारो म्हारे देस' जैसे लोकगीत भी पेश किये। इन कार्यक्रमों के बीच में पाकिस्तान से आये साधियों ने पश्तो संगीत पर पठानी नृत्य प्रस्तुत किया। मेहमानों की इस अनौपचारिक पेशकश ने शाम का रंग ही बदल दिया। इन तीनों दिन के कार्यक्रम के बीच-बीच में पाकिस्तानी साधियों ने सिंधी अजरक और पठानी टोपियाँ पहनाकर आयोजकों का अभिनन्दन भी किया। कार्यक्रम समाप्त होने के बाद फोरम के प्रदेश सचिव ज़फ़र बख्त और राष्ट्रीय सचिव ई. दीनदयालन ने धन्यवाद ज्ञापन किया। इन धन्यवाद ज्ञापनों की पेशकश और भाषा खास दोस्ताना लहजे में भीगी हुई थी।

ये साल अच्छा है

इस तरह नये संकल्प और नये इरादों के साथ यह अधिवेशन पूरा हुआ। 31 दिसम्बर की रात पूरी गर्मजोशी से लोग हिंदी फिल्मों की धुनों पर थिरकते रहे। नये साल की सर्द और नम सुबह को जब पाकिस्तानी मेहमान विदा हो रहे थे-दोस्ती और अमन का इरादा हम सबके चेहरों को रोशन कर रहा था।

सेक्युलर व्यवस्था में साम्प्रदायिक चुनौती

■ सुभाष गाताडे

महाराष्ट्र में अल्पसंख्यकों की शिकायतों को दूर करने के लिए विशेष दस्ते बनाए जाएंगे।

इस बीच अन्ना आन्दोलन को लेकर महाराष्ट्र में रही गहमागहमी और उसके पहले नगरपालिका चुनाव में कांग्रेस-एनसीपी गठबन्धन को मिली बढ़त की खबरों के बीच एक अहम खबर की तरफ लोगों का कम ध्यान गया होगा। समाचार मिला है कि सूबा महाराष्ट्र में अल्पसंख्यकों की शिकायतों को दूर करने के लिए विशेष दस्ते बनाए जाएंगे।

इन विशेष दस्तों का काम अल्पसंख्यकों की समस्याओं, उनके साथ होने वाली ज्यादतियों या उनकी शिकायतों पर रिपोर्ट तैयार करना होगा। राज्य पुलिस सूत्रों का कहना है कि ये दस्ते थानों में तैनात इन्स्पेक्टर (समुदाय) से रोजमर्रा के तौर पर समन्वय करेंगे और इनकी रिपोर्ट हर माह राज्य पुलिस मुख्यालय को भेजी जाएगी। यह सवाल उठना लाजिमी है कि अचानक सरकार की तरफ से ऐसा कदम उठाने की घोषणा क्यों हुई?

दरअसल पुलिस द्वारा संदिग्धों के परिवारजनों की गैर कानूनी हिरासत एवं प्रताड़ना संबंधी कई शिकायतें वरिष्ठ अधिकारियों तक पहुंची थीं। 13 जुलाई के आतंकी हमले के बाद किस तरह पुलिस फैंज उस्मानी नामक एक छोटे दुकानदार को गोवंडी से उठा ले गई और किस तरह कथित तौर पर पुलिस प्रताड़ना के चलते उसकी हिरासत में मौत हुई थी, वह मसला सुर्खियां बना था।

दंगे जैसी स्थितियों में भी अल्पसंख्यक समुदाय की तरफ से कानून एवं व्यवस्था बनाये रखने के लिए तैनात मशीनरी के पूर्वाग्रहों की शिकायत आती रहती है। खबरों के मुताबिक ऐसी तमाम जानकारी, शिकायतें एकत्र कर राज्य एवं केन्द्र सरकार को भेजी जाएंगी। फिलवक्त इस पर कोई निर्णय नहीं लिया गया है कि अल्पसंख्यक समुदाय जिन पुलिसकर्मियों के खिलाफ आरोप लगाएगा, उनके खिलाफ किस किस्म की कार्रवाई की जाएगी।

निश्चित ही महाराष्ट्र की जो छवि शेष मुल्क में व्याप्त है, उससे विपरीत यह दृश्य दिखता है। वैसे एक सरकारी रिपोर्ट को पलटें, जिसके अंश मुख्यधारा के मीडिया में पिछले साल के पूर्वार्ध में प्रकाशित हुए थे (महा शेम ऑन रायट्स काउंट) तो यही विचलित करने वाला तथ्य सामने आ सकता है कि मुल्क का यह सूबा जिसने समाज सुधार आन्दोलनों

में नजीर कायम की और जो कभी ट्रेड यूनियन आन्दोलन तथा कम्युनिस्ट आन्दोलन का गढ़ हुआ करता था, 21वीं सदी की पहली दहाई में साम्प्रदायिक घटनाओं के मामले में शेष राज्यों को मात देता दिखता है।

‘सोशियो इकोनोमिक स्टेटस ऑफ मुस्लिम्स इन महाराष्ट्र’ शीर्षक नामक उपरोक्त रिपोर्ट के मुताबिक वर्ष 1998 से 2008 के दौरान साम्प्रदायिक घटनाओं के मामले में महाराष्ट्र अव्वल रहा। इस दौरान वहां 1,192 साम्प्रदायिक घटनाओं को रेकार्ड किया गया। बाकी चुने हुए राज्यों में आंकड़े इस प्रकार थे - उत्तर प्रदेश (1,112), मध्य प्रदेश (860), गुजरात (823), कर्नाटक (654), बिहार (524), उड़ीसा (357), पश्चिम बंगाल (205), दिल्ली (85), हिमाचल प्रदेश (11) आदि। टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेस के प्रोफेसर शबन जिन्होंने महाराष्ट्र अल्पसंख्यक आयोग के लिए प्रस्तुत रिपोर्ट तैयार की, स्पष्ट करते हैं कि महाराष्ट्र का समाज किस हद तक साम्प्रदायिक आधारों पर ध्रुवीकृत हो चुका है।

उनके मुताबिक चाहे गणेश चतुर्थी हो या मोहर्रम, ये दोनों त्योहार यहां इस ढंग से मनाए जाते हैं जिसमें अन्य समुदाय का कोई स्थान नहीं होता। अनेक साम्प्रदायिक घटनाएं इन उत्सवों के दौरान पैदा तनाव का ही नतीजा होती हैं। साम्प्रदायिक दंगों में हुई मौतों के आंकड़े देखें तो मोदी शासित गुजरात शीर्ष पर दिखता है। आधिकारिक तौर पर गुजरात में इस दौरान 1,114 मौतें हुईं (गैर-सरकारी आंकड़ों या मानवाधिकार संगठनों द्वारा एकत्र आंकड़े देखें तो उक्त आंकड़ा इससे कम से कम दुगुना है), उसके बाद उत्तर प्रदेश (384), बिहार (231), महाराष्ट्र (172), मध्य प्रदेश (162), कर्नाटक (75), उड़ीसा (67), पश्चिम बंगाल (46), दिल्ली (11) और हिमाचल प्रदेश (2) का नम्बर आता है।

वैसे महाराष्ट्र के सामाजिक-राजनीतिक जीवन के धीमी गति से साम्प्रदायीकरण की इस तस्वीर से हम सब तब भी रूबरू हुए थे जब सच्चर कमीशन द्वारा भारत के मुसलमानों के हालात पर केन्द्रित रिपोर्ट के अंश प्रकाशित हो रहे थे। इसमें वह आंकड़े भी शामिल थे जो बता रहे थे कि किसी विशिष्ट राज्य की आबादी में मुसलमानों का प्रतिशत कितना

शेष पृष्ठ 13 पर

फैज़ अहमद फैज़ के साथ एक बातचीत

■ मुजप्फर इक़बाल

मुजप्फर इक़बाल : प्रगतिशील लेखन आंदोलन के एक विशिष्ट स्तंभ के रूप में आपने इसके उतार-चढ़ाव को करीब से देखा है। अन्य आंदोलनों की भांति ही यह शुरुआत में काफी तेजी से उभरा लेकिन बाद में इसकी गति धीमी पड़ गई जिससे एक खालीपन आ गया है। बाद के दिनों में इसमें गुटबंदी हो गयी और यह कई छोटे गुटों में बंट गया। मुझे याद आता है कि सन् 1949 में ही आपने प्रगतिशील लेखक संघ से नाता तोड़ लिया था। उर्दू साहित्य में इस आंदोलन के योगदान के बारे में आपका क्या ख्याल है?

फैज़ अहमद फैज़ : पहले हमें आंदोलन और संगठन को अलग-अलग देखना होगा। यह कहना सही नहीं है कि प्रगतिशील आंदोलन कई छोटे गुटों में बंट गया था। प्रगतिशील लेखक संघ में तब तक एकता बनी रही जब तक वह अपने समय और तत्कालीन स्थिति के अनुसार एक उद्देश्य पर चलता रहा। आंदोलन और संगठन तभी अस्तित्व में आए जब हमारे देश में स्वाधीनता संग्राम जोरों से चल रहा था। तब एक उद्देश्य बिल्कुल स्पष्ट था - राष्ट्रीय स्वाधीनता। उस समय इस उद्देश्य को लेकर कोई मतभेद नहीं रहा।

दूसरी बात यह कि तत्कालीन सामाजिक प्राथमिकता को लेकर भी मतभेद नहीं था। इस पर सहमति थी कि हमेशा से बुनियादी अधिकारों तथा सुविधाओं से वंचित तथा शोषित वर्ग की ज़िंदगी और उसकी समस्याओं का चित्रण करने की आवश्यकता है। इस पर आम सहमति थी। इस वर्ग में शहरी सफेदपोश लोग, मजदूर तथा समाज के पिछड़े तबकों के वे लोग शामिल थे जिनका जीवन साहित्य में चित्रण के लिए उपयुक्त कभी नहीं समझा गया। यह भी हमारा अनुमान था कि आज़ादी के बाद देश में सामाजिक अन्याय समाप्त हो जाएगा।

तीसरा मुद्दा यह था कि काल्पनिक समस्याओं तथा गढ़ी हुई स्थिति पर लिखने के बजाए जीवन का यथार्थवादी चित्रण होना चाहिए। चूंकि इन मुद्दों पर कोई असहमति नहीं थी, इसलिए आंदोलन और संगठन साथ-साथ उभरे तथा दोनों में एकता भी बनी रही।

लेकिन आज़ादी के बाद हमें यह महसूस हुआ कि अभी हम सिर्फ एक मकसद में कामयाब हुए हैं और दूसरे मकसदों में कामयाबी अभी हासिल होनी है। अब इन मकसदों को हासिल

करने के तरीके को लेकर मतभेद उभरा। जनतंत्र या सामाजिक न्याय जैसे मुद्दे पर मतभेद कभी नहीं था। मतभेद तो उद्देश्य की प्राप्ति के रास्ते को लेकर था। कोई एक तरीका चाहता था तो दूसरे के विचार में दूसरा तरीका सही था। इससे संगठन में एकता खत्म हो गयी।

इसी दौरान जीवन के यथार्थवादी चित्रण पर भी मतभेद सामने आ गए। जब समाज में विभ्रम तथा दिशाहीनता की स्थिति हो तो जनता के सामने दो ही स्थिति होती है : अन्तर्मुखी या बहिर्मुखी हो जाएं। कुछ लेखक तब के हालात से ऐसे ऊबे हुए थे कि कहने लगे : 'भाड़ में जाए यह सब! हम लोग अन्तर्मुखी हो जाएं तथा अपने अंतर्मन का संधान करें।' इसके चलते वस्तुगत बदलाव आया। उनका विचार था कि कोई चीज़ अंदर से या तो अच्छी या बुरी नहीं होती। इसका परिणाम यह हुआ कि एक तरह का अराजकतावाद, शून्यवाद या आत्मरति जैसा वाद हावी हो गया। इसके लिए न तो आंदोलन, न ही संगठन को दोषी ठहराया जा सकता था। यह परिस्थिति की उपज थी। मेरा विचार है कि प्रगतिशील आंदोलन अपने लेखकों की खोज नहीं थी। साहित्य में इस प्रकार की प्रवृत्ति हमेशा रही है। हमेशा कुछ ऐसे लेखक रहे जो भविष्य के सपने देखते थे। कुछ ऐसे भी लेखक होते रहे हैं जो अपने मन को ही ब्रह्मांड तक मानते थे। लेकिन मेरा ख्याल है कि ब्रह्मांड बहुत बड़ा है और उसमें हम लोगों से भी अधिक महत्वपूर्ण चीज़ें भरी पड़ी हैं। बहरहाल, मेरा यह मानना है कि आज भी साहित्य में जो महत्वपूर्ण है वह उसी विचारधारा की देन है जिसे प्रगतिशील लेखकों या उसके पूर्वजों-शेख सादी से लेकर इक़बाल तक ने अपनाया था। इसलिए यह कोई नई स्थिति नहीं है।

चूंकि हमने अब तक अपने समाज के भावी स्वरूप का निर्धारण नहीं किया है, न ही हम अपने अंतिम उद्देश्य या उद्देश्य-प्राप्ति के रास्ते को लेकर एकमत हैं, इसलिए इस स्थिति के चलते हमारा साहित्य प्रभावित हो रहा है। इन सबों के बावजूद मेरे ख्याल में आज जो भी अच्छा साहित्य लिखा जा रहा है, वह मूल रूप में यथार्थवादी एवं प्रगतिशील है। यह पलायनवाद के बजाए तार्किक और यथार्थवादी तरीके से हमारी समस्याओं का हल ढूंढने की कोशिश करता है।

मुजप्फर : हम अब आपकी कविता की तरफ आएँ।

1952 में जब आपका संकलन **दस्त-ए-सबा** प्रकाशित हुआ था तब आप जेल में थे। इस संकलन का अच्छा स्वागत हुआ और अचानक आप लोकप्रिय कवि के रूप में जाने जाने लगे। तब आपको कैसा लगा? क्या इसने आपकी आने वाली कविताओं को प्रभावित किया? क्या एक विशेष स्तर बनाये रखने का दबाव आप पर पड़ा?

फ़ैज़ : जहां तक मशहूर होने का सवाल है, 1943 में मेरा पहला संकलन 'नक्श-ए-फरियादी' प्रकाशित हुआ तो मुझे एक कवि मान लिया गया। हां, इस पर मुझे थोड़ी हैरत ज़रूर हुई थी। आखिर मैंने ऐसा क्या किया था? कुछ कविताएं ही तो लिखी थीं। दूसरा संकलन **दस्त-ए-सबा** जब प्रकाशित हुआ तो उसमें एक भिन्न प्रकार का अनुभव, जेल का अनुभव भी शामिल था। लोगों को लगा कि उस ज़माने के हालात का अच्छा चित्रण हुआ है और उन्हें वह अच्छा लगा। जहां तक मेरा व्यक्तिगत प्रश्न है, मुझे इससे कोई फर्क नहीं पड़ा कि इसे लोगों ने बहुत पसंद किया है। लोग हमेशा मुझ पर मेहरबान रहे हैं। लेकिन इससे मेरी शायरी प्रभावित नहीं हुई क्योंकि मैं वही लिखता हूं जो मेरा दिल महसूस करे और समझे। **दस्त-ए-सबा** में एक खास समय के अनुभव हैं। इसके बाद तो कई दौर आए। मैंने जो महसूस किया और लोगों ने महसूस किया, मैंने उसी को शायरी में बांधने की कोशिश की। वह मैं अभी भी कर रहा हूं। यह ऐसी कोई समस्या नहीं है और मैं नहीं समझता कि मैं कोई नायाब काम कर रहा हूं। यह बिल्कुल सीधा मामला है। दिल से जो महसूस होता है, उसे मैं व्यंजना देने की कोशिश करता हूं। अगर वहां कहने को कुछ नहीं मिलता तो मैं बाहर झांकर लोगों के दिलों में देखता हूं, उस पर शायरी कहता हूं। मैंने अपना शायरी का मिजाज़ नहीं बदला है और न ही मैं अपनी शायरी के मिजाज़ में अपने को कैद पाता हूं।

मुजफ्फर : आपकी शायरी में सूर्योदय का प्रतीक बार-बार आता है। सूर्योदय की ताज़गी, उसकी खुलती रोशनी, इन सबों का इस्तेमाल आप बार-बार करते हैं। और आप तो उस पीढ़ी के हैं, जिसके पास अपना सपना था- आज़ादी का सपना। लेकिन पीछे मुड़कर देखें तो लगता है कि वह सपना टूट कर बिखर गया। आपकी पीढ़ी एक अंधेरे से दूसरे अंधेरे में भटकती रही। इस बीच सपना तो था लेकिन रोशनी की मीनार न थी। आपकी पीढ़ी के सपनों के छले जाने के दो नतीजे हो सकते थे-पलायनवादी भाववादी साहित्य या फिर तेज-तर्रार साहित्य। लेकिन आपने अपने को इन दोनों अतिवादों से बचाया। वैसे आपकी शायरी में बारीक-सी उदासी तो है लेकिन वहां पद्य की कोमलता भी है। हकीकत में आगे चलकर ये दो बातें आपकी शायरी में अहम होती गयी हैं। आप ऐसा कैसे कर पाये?

फ़ैज़ : पहली बात तो यह कि मैं नहीं समझता कि सपना

बिखर गया है। यह तो बस कुछ देर का ठहराव है। मीर ने कहा था कि मौत तो एक पड़ाव है, हम थोड़ा आराम कर आगे बढ़ जाएंगे। मीर जैसा उस्ताद शायर जब यह कहे कि मौत के बाद आगे बढ़ने की दूसरी ज़िंदगी है, तो उसी तरह हम भी अभी मरे नहीं हैं। हमारा देश अभी मरा नहीं है। न ही वह गायब हो गया है। इसलिए सपनों के बिखर जाने का सवाल ही नहीं उठता।

दूसरी बात यह कि सपने को ज़िंदा रखने का कोई शौक हमें नहीं है, बल्कि बाध्यता है। ज़िंदगी सपने के बगैर नहीं होती। जीवन तो बड़ा वरदान है और इससे इंकार करना खुदा के वजूद से इंकार करना है। मैंने एक नज्म इसी बात पर लिखी थी। मेरे ख्याल से वह दीवान 'शाम-ए-शहर-ए-यारां' में शामिल है। खैर, यथार्थवाद की भी मांग है यह कि जब दुख और निराशा हो तो उसके वजूद से इंकार नहीं करना चाहिए और साथ ही हमें अपने यकीन और उम्मीद को भी नहीं खोना चाहिए। इनके बगैर ज़िंदा नहीं रहा जा सकता।

मुजफ्फर : मोह भंग से अपने आपको बचाने का यह अच्छा तरीका है लेकिन आप ही की पीढ़ी के कुछ लेखक संतुलन नहीं रख पाए। कुछ एकदम भाववादी हो गए तो कुछ परचम लेकर निकल पड़े। क्या आपको ऐसी हालत का सामना नहीं करना पड़ा? या आप हमेशा जानबूझकर ऐसी हालत से बचते रहे?

फ़ैज़ : चेतन और उपचेतन में फर्क कहां है, द्वन्द्व कहां है? यह ज़रूर है कि आगे निकलने के लिए दोनों में कशमकश चलती रहती है। हो सकता है कि किसी दिन मन ही मन चीखने लगूँ-हम सब कुछ छोड़-छाड़ कर घर बैठ जाएं और अल्लाह का नाम जपते रहें! लेकिन जब मैं सोचता हूं तो इसे बेकार समझता हूं। यह इस पर मुनहसिर है कि आदमी कितना मजबूत है। जब आदमी थक जाता है तो मैदान भी छोड़ सकता है। लेकिन आगे बढ़ने के लिए आदमी में यकीन का होना, विश्वास का होना बड़ा ज़रूरी है। थोड़ी रोशनी अपने अंदर से मिले, थोड़ी बाहर से दोस्तों और हमदर्दों से मिले तो आदमी का यकीन ज़िंदा रहता है। अगर आप अपने को दूसरे लोगों से काट लें, अपने-आप में सिमट जाएं तो आप कमज़ोर होते जाएंगे लेकिन अगर आप आम लोगों के साथ कारवां में चलें तो निराश होने की ज़रूरत नहीं है।

मुजफ्फर : जैसा कि आपने कहा कि आपकी शायरी यकीन और उम्मीद पर एक लंबे संघर्ष की तरह टिकी है लेकिन आपने समय-समय पर अपने पुराने शायरों की तरह शराब और उस पर शहर की बंदिशों के बारे में भी शेर कहे हैं। इस तरह की शायरी का मिजाज़ आपकी संघर्षों तथा रोज़मर्रा के नए-नए मसलों वाली मॉडर्न शायरी से नहीं मिलता। आप इस फर्क को कैसे पाटते हैं?

फैज़ : नहीं-नहीं। यह पुरानी थीम नहीं है। गज़ल में यह सहूलियत है कि आप पुरानी थीम को पुरानी शब्दावली, बिम्बों और उपमाओं का इस्तेमाल करते हुए भी आज की हालात से रूबरू शे'र कह सकते हैं। अल्लाह और मुल्ला, ताकतवर और आम लोगों के बीच की कशमकश आज की भी थीम है।

मुजफ्फर : आपकी शायरी पर आपके जेल-जीवन का बड़ा असर रहा है। क्या इसने आपकी शायरी की हद पर कोई अंकुश लगायी?

फैज़ : नहीं। बल्कि मैं कहूंगा मामला इसके उलट है। जेल-जीवन ने मेरी शायरी को एक नया रंग दिया है। खुली दुनिया में अपनी मशरूफियतों की वजह से आप जिन दुनियावी चीज़ों पर गौर नहीं कर सकते, जेल में वह ज़्यादा साफ दिखने लगता है। आपकी संवेदनशीलता बढ़ जाती है। जेल में आपके पास समय भी बहुत होता है। बाहर रहकर अफ्रीका जैसे मसले पर मैं नहीं लिख पाया लेकिन जेल में अफ्रीका पर नज़्म लिखी। जब बाहर था तो उस पर तवज़्जो नहीं दे पाया था। इसलिए एक तरह से देखें तो जेल में आपकी दुनिया आपके करीब भी आती है और आपसे दूर भी होती है। दोनों मामलों में एक आज़ादी होती है कि आप बहुत चीज़ों के बारे में सोच सकते हैं।

मुजफ्फर : आपकी ताज़ा किताब 'मेरे दिल, मेरे मुसाफिर' पढ़ने वालों को यह महसूस होता है कि ये निर्वासन की कविताएं हैं। घर से दूर रहने का दर्द है। यह बात पहले की किताबों में नहीं है। फिर भी यह आपकी शायरी का एक नया रंग है। क्या आप अपने को देश-निकाला भोगने वाले अंतर्राष्ट्रीय कवियों, जैसे नाज़िम हिक्मत और महमूद दरवेश की टोली में शामिल समझते हैं?

फैज़ : एक तरह से देखें तो आपकी बात सही है। लेकिन दूसरी तरह से गलत है। हम लोग देश से बाहर ज़रूर रह रहे हैं लेकिन वे लोग देश से निकाले गये हैं जबकि मैं अपनी मरजी से देश के बाहर घूमता रहा हूँ। किसी ने मुझे देश छोड़ने पर मजबूर नहीं किया। देश से दूर रहने का दर्द वहाँ है जैसे कोई अपनों से बिछड़कर उदास होता है। लेकिन जो लोग देश छोड़ने पर मजबूर कर दिये गये हैं उनकी उदासी, उनकी असहायता दूसरे किस्म की है।

मुजफ्फर : लेकिन इस तरह के कुछ शे'र तो आपने लिखे हैं।

फैज़ : यह सही है, लेकिन सच उतना ही नहीं है। मुझे देश छोड़ने का हुक्म नहीं दिया गया था। मुझे लगा कि चीज़ें उलटी पड़ती जा रही हैं तो मैं कुछ समय के लिए छुट्टी मना लूँ। महमूद दरवेश और उसके फिलिस्तीनी भाइयों तथा मेरे हालात में बड़ा फर्क था। उन्हें तो इकट्ठे देश से निकाल दिया गया था। उनका दुख मेरे से बड़ा है। नाज़िम हिक्मत को चौदह

साल की जेल की सजा दी गयी थी। तब उसे देश छोड़कर भागना पड़ा और लौटने का कोई रास्ता नहीं बचा था। लेकिन मुझे बहुत लोगों का प्यार और सम्मान मिला है, बावजूद इसके देश छोड़ने की उदासी कम नहीं हो जाती।

मुजफ्फर : आप अपनी मर्जी से तीन साल तक देश से बाहर रहे, क्या इससे आपकी सोच में बदलाव आया है?

फैज़ : हां। दूर से आप चीज़ों को संतुलित ढंग से, साफ-साफ देख-समझ सकते हैं। आप मुल्क के बारे में बहुत भावुक नहीं रहते, उसके बारे में सोच-सोचकर परेशान नहीं रहते। इसलिए आप हालात को बेहतर तरीके से समझ सकते हैं।

मुजफ्फर : आपकी भाषा, उपमा और बिंब सभी तो शास्त्रीय हैं। लेकिन आप उनमें नया मायने भर देते हैं। क्या आपको नया मुहावरा इस्तेमाल करने की तबीयत नहीं होती? कुछ शायर तो ऐसा कर भी रहे हैं।

फैज़ : हर भाषा की सीमा होती है। उर्दू इससे अलग नहीं है। कभी-कभार मेरी तबियत होती है कि इन बंदिशों को तोड़ दूँ, लेकिन वह काम बड़ा शायर ही कर सकता है। मामूली शायर इसे नहीं कर सकते। ज़बान की बंदिशों के बावजूद नयी चीज़ें होती रही हैं। मीर, सौदा, नज़ीर अकबराबादी, गालिब, इक़बाल सबों में नयापन का रुझान था। उन लोगों ने अल्फाज, ढांचा वगैरह में बदलाव किया। मैंने भी बंदिश की हद में रहकर ही नयी कोशिशें की, लेकिन मुझमें इससे अधिक कर पाने की हिम्मत नहीं थी। क्योंकि मैं जानता था कि गद्य और कविता अलग-अलग चीज़ें हैं। शायरी चीज़ों को समेटती है जबकि गद्य उसे बिखराता है। शायरी लय, छंद के नियमों से चलती है जबकि गद्य में यह बंदिश नहीं है। कविता तो शब्द से ऊपर उठती है जबकि गद्य तो सपाट तल पर चलता है। अब इस फर्क को बनाये रखते हुए नयी बात कहनी पड़ती है। इसके लिए कोई आसान नुस्खा नहीं मिलता है। हर किसी का अपना मिजाज़ है, इंस्पिरेशन है। मुझे तो यह लगता है कि अपने अदब की विरासत का पूरा लाभ मैं नहीं उठा पाया। इसकी गुंजाइश अभी भी है। हमारी नयी पीढ़ी ने अपने को विरासत से काट लिया है, इसलिए वे इससे लाभ उठाना नहीं चाहते। जहाँ तक एक बिल्कुल नए मिजाज़ की शायरी का ताल्लुक है, उसके लिए ज़्यादा ज़हीन होना पड़ता है। मुझमें वह प्रतिभा नहीं है और मुझे जब ऐसा करने की तबियत होती है, मैं पंजाबी में लिखता हूँ।

मुजफ्फर : नयी शायरी वाले क्या पश्चिम से मुतासिर नहीं हैं?

फैज़ : बिल्कुल। यह तो मौलाना हाली और मौलाना मुहम्मद हुसैन आज़ाद के लेखन के साथ शुरू हो गयी थी। उनकी शायरी पश्चिम की नकल थी। वे प्राकृतिक दृश्यों, बेवाओं, अनाथों के बारे में जो लिखते थे, वह सब बकवास था।

इसमें देसी खून और जज्बा नहीं था। वह तो महज नकल थी और नकल रचना हो ही नहीं सकती। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि दूसरी तरफ की शायरी का लाभ न उठाया जाए। कीजिए मगर सलीके से। अपनी विरासत की ज़मीन पर रहकर दूसरी जगहों की चीज़ों को इस नज़रिए से देखिये कि उसमें से कितना और क्या आपके मतलब का है। रिवाज और नयापन, विरासत और नयी खोजें साथ-साथ चलती हैं।

शायरी सिर्फ़ ख्यालातों और जज्बों को ज़ाहिर करने तक ही महदूद नहीं रहती। यह एक हुनर भी है। हुनर सीखा जाता है। यह संगीत की एक बंदिश की तरह है। इसमें देखना पड़ता है कि सुर मेल खा रहा है या नहीं। इसलिए इन चीज़ों का ख्याल रखना चाहिए। पश्चिम की राह पर पीछे-पीछे चलने का फैशन हमें कहीं नहीं पहुंचाएगा। पौधे की जड़ मिट्टी में ही होनी चाहिए। इसकी जड़ें मजबूत हों क्योंकि उसके बगैर पौधा जिंदा नहीं रह सकता। वह सूख जाएगा। हां, पौधा बड़ा हो जाए तो नए हालात के मुताबिक उसी पौधे की डालों की छंटाय भी करनी पड़ती है।

मुजफ्फर : दूसरे मुल्कों में मसलन दक्षिण अमरीका के देशों के कुछ कवि आप ही जैसी कविताएं लिख रहे हैं। क्या आप समझते हैं कि इस तरह की कविता क्या अंतर्राष्ट्रीय स्थिति को प्रभावित कर रही है। क्या उससे बदलाव आ रहा है?

फ़ैज़ : सच यह है कि हमारी शायरी को कोई रिश्ता किसी, अंग्रेज़ी को छोड़कर जिसके हालात हमसे बिल्कुल अलग हैं, से नहीं रहा है। वैसे कई ऐसे मुल्क हैं जिनसे हमारे हालात मिलते हैं। उनकी और हमारी शायरी में कई चीज़ें मिलती-जुलती हैं। पिछले दस-बीस सालों में हम अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी या जर्मन शायरी से हटकर लातिनी अमरीकी, घ्यानी, फिलीस्तीनी, अरबी तथा अफ्रीकी शायरी की तरफ मुड़े हैं। और यह बहुत अच्छी बात है। इससे हम उन लेखकों-शायरों के करीब आ सके हैं जिनके अनुभव हमारे अनुभवों से मिलते हैं।

मुजफ्फर : मार्खेज का उपन्यास 'ऑटम ऑफ़ द पेट्रियार्क' पढ़ते हुए मैंने यह महसूस किया कि वह कहानी हमारे देश में घट सकती थी। तो जब ऐसे लेखन का अनुवाद हमारे यहां होता है तो उसका प्रभाव पड़ता है। लेकिन क्या इसका असर हमारे साहित्य पर भी पड़ता है?

फ़ैज़ : हां। इन अनुवादों का भारी महत्व है, क्योंकि इससे अन्य देशों की रचनाधर्मिता को जानने-समझने का मौका मिलता है। हम अपने हालातों को बेहतर तरीके से देखने लगते हैं। मसलन तुर्की तथा अरबी से हमारे यहां जो अनुवाद हुए हैं उससे हमारे साहित्य का फलक बड़ा हुआ है।

मुजफ्फर : अब आज की शायरी के बारे में कुछ कहें। अपने साथ के शायरों तथा नए शायरों के बारे में आपका क्या खयाल है?

फ़ैज़ : मुझे लगता है कि मानसिक अराजकता और भ्रमों के बावजूद हमारे यहां काफी अच्छी शायरी हो रही है। नये शायरों के भविष्य के बारे में बयान देने में हमेशा मुश्किल आती है क्योंकि आपको नहीं मालूम कि वे कब तक अच्छी शायरी करते रहेंगे। फिर भी हमारी शायरी ठूठ कभी नहीं हुई। हमारे यहां अच्छे कवि, लेखक और आलोचक हैं, लेकिन इसने कभी आंदोलन का रूप नहीं लिया है जैसे कभी प्रगतिशील लेखक आंदोलन हुआ करता था। फिर भी हमारे यहां नयी प्रतिभाओं की कमी नहीं है। हमारे यहां लहरें तो हैं लेकिन धारा नहीं बनी है। फिर भी हमें अपने साहित्य के बारे में चिंता करने की ज़रूरत नहीं है। उर्दू के अलावा पंजाबी, बलूची, सिंधी और पश्तो भी तो हैं। पहली बार लोग इन जुबानों पर ध्यान दे रहे हैं। इनमें बहुत जानदार शायरी लिखी जा रही है। गद्य-लेखकों की भी पहचान बन रही है। अदब का कारवां बढ़ता जा रहा है.....

मुजफ्फर : आप कैसे लिखते हैं?

फ़ैज़ : मैं कैसे लिखता हूँ? मुझे ठीक से नहीं मालूम। फिर भी कुछ-कुछ ऐसा होता है। किताब पढ़ते समय कोई एक लाइन, एक इमेज या लय मेरे दिमाग में अटक जाती है। वह दिमाग में मंडराती रहती है। कई बार संगीत सुनते वक्त कोई लय असर छोड़ जाती है। कई बार एक घटना एक लाइन लिखवा लेती है बाद में उसी पर पूरी नज़्म बन जाती है। गज़ल के लिए पहले एक मिसरा उभरता है और उसी की ज़मीन पर गज़ल मुकम्मल हो जाती है। हां, नज़्म के लिए सोचकर, योजना बनाकर चलना पड़ता है। शुरू में केवल कुछ लाइनें सूझती हैं और उसके बाद बड़ईगिरी वाला काम शुरू होता है। अगर शुरू की लाइनें और इमेज धारदार हों, उसकी लय भी ठीक हो तो बड़ईगिरी चलती रहती है। लय में कोई गलत सुर न लगे, वरना हाथ रुक जाएगा। कई बार किसी घटना, भावना या अनुभव का प्रभाव इतना गहरा होता है कि पूरी कविता एकबारगी ही उभर जाती है। वहीं दूसरी कविताएं मुकम्मल होने में महीना ले लेती हैं।

मुजफ्फर : आपने कभी ऐसी कोई महत्वपूर्ण कविता लिखनी चाही हो जिसे आपके लेखन में विशेष स्थान मिल सके और आप उसे न लिख पाये हों?

फ़ैज़ : एक-दो बार मैंने लंबी कविता लिखनी चाही। 'सर-ए-वादी-ए-सीना' को मैं एक लंबी नज़्म के रूप में लिखना चाहता था। लिखना शुरू भी किया, आखिर बोर होकर छोड़ दिया। 'दस्त-ए-सबा' की एक नज़्म 'जेल की सुबह' को मैं लंबी नज़्म बनाना चाहता था, उसमें अपने सारे अनुभवों को पिरोना चाहता था, लेकिन कर नहीं पाया।

अनुवाद : अरुण प्रकाश

साभार : पाकिस्तान दूसरा पहलू

कलाकार की जाति

■ मंजु शुक्ल

कुछ दिनों पहले विदेशिया पर एक लेख पढ़ने को मिला। विदेशिया से भिखारी ठाकुर की आकृति आँखों के सामने आ जाती है। इससे पहले भिखारी ठाकुर पर लिखा संजीव का उपन्यास 'सूत्रधार' पढ़ा था, जो मुझे इतना पसन्द आया कि हमने इसे दुबारा पढ़ा। छपरा जिले में ही घर होने के बावजूद भी उन्हें पास से कौन कहे दूर से भी देखने का सौभाग्य नहीं मिला और न तो उनके बारे में विशेष कोई जानकारी ही थी। उन्हें हम लोग एक नचनिया के नाम से जानते थे जिसकी दो कृतियाँ 'विदेशिया' और 'बेटी बेचवा' का बहुत नाम था। जिस किसी गाँव/इलाके में भिखारी ठाकुर के ये दो नाटक/नाच होता था उन इलाकों में प्रशासन को व्यवस्था बनाने में नानी याद आ जाती थी। लोगों का हुजूम इकट्ठा हो जाता था। आदमी औरतों (औरतें भी पंडाल से थोड़ी दूर पर अर्धरे में बैठकर इसका आनन्द लेती थीं) की भीड़ इकट्ठी हो जाती थी। कहते हैं कि बिना माइक के भी उनकी आवाज दो कोस दूर तक गूँजती थी।

पहली बार उनके कद के बारे में तब मालूम हुआ जब उनको पदमश्री मिला पर और ज्यादा जानकारी तो उनके मरने के बाद हुई जब अखबारों, पत्रिकाओं में उन पर विशेष रूप से लिखे लेख और छपे चित्रों पढ़ने/देखने को मिले। नहीं तो हिन्दी भाषी क्षेत्रों की तरह भोजपुरी क्षेत्र के लोग भी चाहे कितना भी उनके नाटक/नाम के प्रशंसक क्यों न रहे हों, कितनी भी बड़ी भीड़ उन्हें और उनके नाटकों को देखने के लिए इकट्ठी क्यों न होती रही हो पर हर खासो-आम ने उन्हें नाच के लौण्डा (भोजपुरी इलाके में पुरुष नर्तकों को लौण्डा ही कहा जाता है। यह एक तरह के गाली के तौर पर भी इस्तेमाल किया जाता है।) की उपाधि ही दे रखी थी। तथाकथित ऊँची जाति वालों को कौन कहे भोजपुरी इलाके में जिन्हें आज भी नान्हजात कहा जाता है, जिनको सभ्य अखबारी भाषा में अब आम जनता कहा जाने लगा है, सब के बीच में वे नाच के लौण्डा के नाम से ही जाने जाते थे। बल्कि सवर्णों के बीच तो वे भिखरिया के नाम से जाने जाते थे। उस समय का सामाजिक परिवेश ऐसा था कि किसी भी जाति, धर्म का हो यदि किसी परिवार का सदस्य दो चार दिन लगातार भिखारी ठाकुर के टीम के सानिध्य में ही नहीं आस-पास भी दिख जाय तो जैसे उस

परिवार पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ता था। कहा यह जाता था कि उस परिवार की नाक कट गई। उस बेचारे लड़के की खैर नहीं रहती। हालांकि आज भी इससे बहुत अच्छी स्थिति कलाकारों/साहित्यकारों की पूरे हिन्दीभाषी क्षेत्र में नहीं है। इनको एक तरह से नकारा ही समझा जाता है। जब तक कोई बड़ा पुरस्कार अथवा बड़ी प्रसिद्धि नहीं मिली हो, तब तक परिवार, रिश्तेदारों में परिचय देने में भी मुश्किल पेश आती है।

भिखारी ठाकुर जिन्हें गाँव/जवार में भिखरिया, नाऊ-हज्जाम, नाच का लौण्डा तक कहा जाता था, को राहुल सांकृत्यायन ने भोजपुरी का शेक्सपीयर कहा, उनको शिव पूजन सहाय, जगदीश चन्द्र माथुर जैसी विभूतियों का स्नेह एवं सान्निध्य मिला। आकाशवाणी पटना, साहित्य अकादमी एवं राजभाषा परिषद जैसी जगहों से सम्मान, पुरस्कार तो मिला परन्तु अपने गाँव-जवार में उनको वो सम्मान, वो स्थान नहीं मिला जिस पर उनका अथवा उनके जैसे अन्य कलाकारों का हक था। सवर्णों के बीच वो आज भी नाऊ/हज्जाम ही हैं, आज भी उनकी मौत के इतने दिनों के बाद भी इलाके में जिला-जवार के लोगों के बीच भिखरिया के नाम से ही जाने जाते हैं। पढ़े लिखे, सभ्य सुसंस्कृत कहे जाने वाले लोग जब उन्हें बहुत ही हेय एवं हीन रूप में छोट जतिया, हज्जाम, नाऊ या नान्ह जात भिखारी ठाकुर कहकर अपमानित साबित करने की कोशिश करते हैं, तब ऐसे लोगों की शिक्षा एवं सोच दोनों पर, विचार करने को विवश होना पड़ता है। ऐसे लोगों के लिये ये मन होता है कि उन्हें फिर से पढ़ाने की कोशिश करें।

भिखारी ठाकुर और महेन्दर मिसिर भोजपुरी के दो स्तम्भ कहे जाते हैं। महेन्दर मिसिर ने भोजपुरी में हर विधा में गीत लिखे, उन्हें संगीतबद्ध किया और गाया भी जो बहुत ही प्रसिद्ध हुआ। ऐसा कहा जाता है कि छपरा बनारस के कोठों पर गाये जाने वाले गीतों में सबसे प्रसिद्ध महेन्दर मिसिर की पूर्वी थी। उनके बारे में बहुत तरह की बातें की जाती हैं। (उनकी इतनी प्रसिद्ध, इतनी अच्छी रचनायें हैं पर आज का कोई भी भोजपुरी गायक इन रचनाओं को गाने में रुचि नहीं रखता यहाँ तक कि पूर्वी भी जिससे महेन्दर मिसिर को इतनी प्रसिद्धि मिली या यूँ कहें कि पूर्वी को महेन्दर मिसिर से इतनी प्रसिद्धि मिली और दोनों एक दूसरे

के पर्याय बन गये।)

इधर भोजपुरी की एक दो पत्रिकाओं में महेन्द्र मिसिर पर कुछ लेख अथवा पूरा अंक ही पढ़ने को मिला। बड़ा अच्छा लगा। बहुत सारी जानकारी भी मिली। परन्तु एक चीज से मन आहत हुआ। ज्यादातर लेखों में उनके व्यक्तित्व के साथ न्याय नहीं किया गया था। ज्यादा लेख तो तथाकथित ऊँची जाति वालों के ही लिखे हुए थे जिनमें उनको ब्राह्मण समाज के सिरमौर के तौर पर प्रतिष्ठित करने के चक्कर में उनके मूल स्वरूप, उनके कृतित्व पर ध्यान नहीं दे पाये हैं लोग। इस श्रेष्ठता के चक्कर में लगभग हर लेख में उनकी तुलना भिखारी ठाकुर से की गई है और उनको श्रेष्ठ साबित करने के लिए भिखारी ठाकुर को निचली जाति के तौर पर निकृष्ट साबित करने की कोशिश की गई है।

उनकी जिन्दगी के स्याह हिस्से को श्वेत बनाने के खातिर स्याह हिस्से को जोड़-तोड़ कर देशभक्ति से मिलाने की कोशिश की गई है। शायद ही दो तीन लेख ऐसे हैं जिनमें तर्क से काम लिया गया है एवं एक को ऊपर उठाने की खातिर अगले को गट्टे में धकेलने की कोशिश नहीं की गई है।

जो बात मेरी समझ में नहीं आई वो ये कि क्यों जाति-बिरादरी के नाम पर इन दो महापुरुषों को बड़ा छोटा बनाने की कोशिश की जा रही है। क्यों नहीं उन लोगों के कार्यों, समाज के प्रति निभाये गये दायित्वों, व्यक्तित्व एवं

उनके द्वारा रचे गये साहित्य पर चर्चा की जाती? क्यों नहीं हम उनको उनकी अच्छाइयों-बुराइयों, उनके बड़े-छोटे जाति/उपजाति के साथ स्वीकारें? ये दोनों ही व्यक्तित्व भोजपुरी साहित्य के धरोहर हैं हम क्यों नहीं इन्हें इनके इसी रूप में स्वीकारें, इसी रूप में रखें। इनको भोजपुरी की पहचान और भोजपुरी की जान के रूप में याद करें, भोजपुरी के सम्मान के रूप में याद करते हुए इनकी अप्रकाशित रचनाओं को प्रकाशित कराने की व्यवस्था करें। इनके नाटकों को हिन्दुस्तान के हर कोने में मंचित करें।

जब इनका सम्मान किया जायेगा तभी भोजपुरी भाषा और भोजपुरी भाषियों का भी सम्मान होगा। भोजपुरी को संविधान में स्थान दिलवा देने अथवा सम्मेलन में भोजपुरी के नाम पर विलाप करने भर से भोजपुरी का विकास नहीं होने वाला। इसके लिए इस स्तर की राजनीति से ऊपर उठकर जाति-धर्म अथवा लिंग को बीच में लाये बिना अपने साहित्यकार-कलाकार को सम्मान देना सीखना पड़ेगा।

भिखारी ठाकुर को सिर्फ इसलिए छोटा नहीं किया जाय कि वो जाति के नाऊ हैं, पिछड़ी जाति के (नान्ह जात) हैं। परन्तु उनकी कृति के लिए, उनके किये गये कामों के लिए उन्हें सम्मान मिलना ही चाहिये। भिखारी ठाकुर और महेन्द्र मिसिर दोनों अलग-अलग विधा के लिए जाने जाते हैं फिर एक का श्रेय दूसरे को कैसे दिया जा सकता है।

...सांप्रदायिक चुनौती

पृष्ठ 7 का शेष

है और जेलों में उनकी तादाद का क्या प्रतिशत है. सबसे चौंकाने वाले आंकड़े महाराष्ट्र से थे। इनके मुताबिक जहां महाराष्ट्र में मुसलमान समूची आबादी का महज 10.2 फीसद हिस्सा हैं, वहीं जेलों में उनका अनुपात 32 फीसद है।

बाबरी मस्जिद विध्वंस के बाद मुंबई में प्रायोजित दंगों पर श्रीकृष्ण कमीशन की रिपोर्ट के बाद देश महाराष्ट्र के राजनीतिक-सामाजिक जीवन के गहरे साम्प्रदायिकीकरण की घटना से पहली दफा वाकिफ हुआ। श्रीकृष्ण आयोग की रिपोर्ट आए हुए अरसा बीत गया है मगर न किसी नेता पर और न किसी पुलिसकर्मी पर, जिन्होंने इस आग को भड़काने का काम किया, अब तक कोई कार्रवाई हो सकी है। दूसरी ओर अगर हिंदुत्ववादी संघ परिवारी संगठनों से सम्बद्ध नेटवर्क देखें तो उसका अहम केंद्र पुणे दिखता है।

वह राज्य, जिसने महात्मा फुले, अम्बेडकर, रमाबाई ताराबाई शिन्दे जैसे महान समाजसेवियों को पैदा किया, जिनकी विरासत के दावेदार शेष मुल्क में भी फैले हैं, वहां

के जनमानस का एक हिस्सा इतने संकीर्ण विचारों को कैसे आत्मसात कर सकता है! यह समझना इस वजह से भी मुश्किल जान पड़ सकता है क्योंकि आजादी के बाद के छोटे से अन्तराल को छोड़ दें, जिस दौरान कथित साम्प्रदायिक पार्टियां सत्ता में थीं या सत्ता में साझीदार थीं, तो अधिकतर दौर में यहाँ उसी पार्टी की हुकूमत रही है जो अपने को घोषित तौर पर सेक्युलर कहती है। आखिर सेक्युलर व्यवस्था में साम्प्रदायिक शक्तियां किस तरह ताकत हासिल करती गयी हैं। निश्चित ही इसकी पड़ताल करना, इस पर प्रश्न उठाना और इसे चुनौती देना बेहद ज़रूरी है क्योंकि यह भारत की सेक्युलर डेमोक्रेसी की रक्षा के लिए अनिवार्य है।

साम्प्रदायिक शक्तियों के इस मौन उभार को कई स्तरों पर समझना होगा। विवेचना का एक स्तर धर्मनिरपेक्षता की हमारी समझदारी से ही नहीं बल्कि धर्मनिरपेक्ष पार्टियों द्वारा समय-समय पर उठाए जा रहे कदमों से, उनकी गलतियों की पड़ताल करने का भी होना चाहिए। विवेचना का दूसरा स्तर साम्प्रदायिक संकीर्ण शक्तियों द्वारा अपने एजेंडा को लोकप्रिय बनाने के लिए उठाए गए कदमों का भी होना चाहिए।

अभिव्यक्ति की जगह

■ अपूर्वानंद

पटना में प्रेमचंद रंगशाला का जनता के लिए खोला जाना राष्ट्रीय महत्त्व की घटना नहीं मालूम पड़ेगी। अगर यह कहा जाए कि इसके फिर से खोले जाने की कहानी का प्रेस की आज़ादी के संघर्ष से गहरा रिश्ता है तो शायद पाठकों को ताज्जुब होगा। लेकिन इसके बनने, बंद होने, सैन्यबल की पनाहगाह में तब्दील होने और सामाजिक स्मृति के तलघर में दीर्घ अंतराल तक पड़े रहने, और फिर अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की आकांक्षा की आभा में जनचेतना में इसके उभर उठने और फिर इसे सैन्यबल के कब्जे से मुक्त कर रंगशाला के रूप में वापस बहाल करने की गाथा के अभिप्राय एक प्रदेश तक सीमित नहीं, उनकी एक सार्वभौमिक व्यापकता है।

पिछली सदी के छठे दशक में प्रेमचंद रंगशाला का बनना एक नई राष्ट्रीय सांस्कृतिक सांस्थानिक गतिविधि का परिणाम कहा जा सकता है। इसकी परिकल्पना प्रख्यात नाटककार और बिहार सरकार में उच्च पदाधिकारी जगदीश चंद्र माथुर की बताई जाती है। वह दौर नई सांस्थानिक कल्पना का था। इसलिए आश्चर्य नहीं कि यह रंगशाला बिहार राष्ट्रभाषा परिषद के ठीक बगल में बनाई गई। परिषद की योजना से भी माथुर साहब का जुड़ाव रहा था। इन दोनों के बीच बिहार ग्रंथ अकादमी दिखाई पड़ जाती थी। रंगशाला का नाम प्रेमचंद पर होने का कोई कारण नहीं था, सिवाय इसके कि इसके करीब चौराहे पर प्रेमचंद की एक प्रतिमा लगाई गई और उसके अनावरण के समय अमृत राय और महादेवी वर्मा की उपस्थिति में ही राजकीय रंगशाला को प्रेमचंद राजकीय रंगशाला घोषित करने का निर्णय लिया गया।

लेकिन रंगशाला बनने के फौरन बाद यानी 1971-72 में इसके पहले कार्यक्रम में ही किसी अव्यवस्था के चलते भड़क उठे लोगों ने इसमें आग लगा दी। कायदे से इसे दुबारा ठीक करके नाट्य-प्रदर्शन के लिए उपलब्ध करने का प्रयास किया जाना चाहिए था। पर ऐसा हुआ नहीं। छठे दशक की समाप्ति को भारतीय नव राष्ट्रीय रोमांटिक दौर की समाप्ति का समय भी कहा जा सकता है। संस्थाओं के स्थापित होने और जनता के साथ उनके रिश्ते बनने के पहले ही उनके प्रति अविश्वास जड़ जमाने लगा था और सामान्य जन का किसी भी राजकीय सांस्थानिक प्रयास के साथ एक प्रकार का उपयोगितावादी और सिनिक, संदेह से भरा संबंध बन गया था। यह बात शिक्षा से लेकर संस्कृति के क्षेत्र तक देखी जा सकती है।

छठे दशक में राजकीय संस्था-तंत्र को ही ध्वस्त कर देने के विचार ने युवाओं के बीच बौद्धिक प्रतिष्ठा हासिल कर ली थी। राज्य भी जल्दी ही असली राजनीति में व्यस्त होने वाला था। साथ ही

नव-निर्माण के लिए जो जीवट चाहिए था उसकी कमी के कारण उस परियोजना से ही उदासीन होते चला जाना उसके लिए स्वाभाविक था। नाटक यों भी समाज के लिए हाशिये की चीज है और जब तक किसी राष्ट्रीय हित-पूर्ति के साधन के रूप में उसकी उपयोगिता स्पष्ट न हो, राज्य के लिए वह महत्त्वपूर्ण नहीं।

प्रेमचंद रंगशाला के जन्म के साथ ही उसके साथ हुई यह दुर्घटना एक रूपक के तौर पर देखी जा सकती है। 1974 बिहार के छात्र आंदोलन के लिए याद किया जाता है। इसका सामना करने के लिए बिहार सरकार ने जो अर्ध-सैन्यबल (सीआरपीएफ) बुलाया था, उसे रखने के लिए इस बेकार पड़ी रंगशाला से बेहतर जगह और क्या हो सकती थी। इस पर आपत्ति करने का वह समय भी नहीं था। आपातकाल लगाया गया, हटा भी, चुनाव हुए और इंदिरा गांधी को जनता ने सत्ता से बेदखल भी कर दिया। जो जनता पार्टी सत्ता में आई, उसकी सरकार के लिए भी रंगशाला में सीआरपीएफ का होना सांस्कृतिक विसंगति न थी। इस तरह एक नई संस्था बनने के तुरंत बाद अवचेतन का अंग बन गई। समाज ने उसे फिर आंख उठा कर देखना ज़रूरी नहीं समझा।

मार्क्सवाद की सरल समझ के मुताबिक भौतिक अवस्था से चेतना का स्तर निर्धारित होता है। लेकिन अक्सर यह देखा गया है कि चेतना या कल्पना नई भौतिक परिस्थिति को जन्म देती है। ऐसा ही कुछ प्रेमचंद रंगशाला के साथ हुआ। कौन जानता था कि प्रेस की आज़ादी का मसला इस रंगशाला को सामूहिक स्मृति के तलघर से निकाल कर सतह पर ले आएगा। 1982 में बिहार में जगन्नाथ मिश्र के मुख्यमंत्रीत्व वाली सरकार ने प्रेस विधेयक लागू करने की घोषणा की। यह एक विडंबनापूर्ण संयोग था कि प्रेमचंद के जन्मदिवस, 31 जुलाई (1982) को बिहार विधानसभा ने सिर्फ पांच मिनट में एक ऐसा अधिनियम पारित कर दिया जो प्रेस को पूरी तरह से निष्प्रभावी कर दे सकता था।

इसके अनुसार 'अशोभन और अश्लील और ईश-निंदा करने वाले या ब्लैकमेल के इरादे से' किए गए किसी भी प्रकाशन पर कार्रवाई की जा सकती थी। इसे एक गैर-जमानती अपराध बना दिया गया था और इस पर कार्रवाई करने का अधिकार न्यायिक मजिस्ट्रेट की जगह अधिशासी मजिस्ट्रेट को दे दिया गया था। फौरन ही बिहार समेत पूरे देश में इसके विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई। ट्रेड यूनियन, छात्र और युवा संगठन और गैर-कांग्रेसी राजनीतिक दल इसके विरुद्ध संगठित हो गए और तीन सितंबर, 1982 को

देशव्यापी हड़ताल सफलतापूर्वक आयोजित की गई।

प्रेस विधेयक ऊपरी तौर पर प्रेस का मामला था। लेकिन आपातकाल अभी बहुत पीछे नहीं छूटा था और जनता किसी भी तरह अपनी नई हासिल की गई अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को गंवाने के मूड में न थी। इसलिए पत्रकारों के साथ हर तबका इसके खिलाफ मैदान में कूद पड़ा। ठीक इसी राजनीतिक क्षण में पटना के कुछ तरुण रंगकर्मियों ने यह तय किया कि अगर प्रेमचंद रंगशाला को व्यापक दिलचस्पी का मुद्दा बनाना है तो इसे अभिव्यक्ति की सिकुड़ती जगह के एक प्रमाण के तौर पर प्रस्तुत करना होगा। 1982 के अंतिम महीनों में राजकीय युवा महोत्सव को ऐसे अवसर के रूप में देखा गया जहां इस बात को जोरदार ढंग से उठाया जा सकता था।

पहली कार्रवाई इस तरह प्रेस विधेयक के विरोध और प्रेमचंद रंगशाला से सीआरपीएफ को हटाने की मांगों को साथ-साथ रख कर की गई। पहली बार युवा महोत्सव के पारितोषिक वितरण के बहिष्कार की इस कार्रवाई में तरुणों की गिरफ्तारी हुई और उन्हें रिहा करने के लिए पटना के मुख्य अशोक राजपथ को देर रात तक जाम भी किया गया। आज तीस साल बाद यह सोच कर जरा हैरानी होती है कि कैसे बिना किसी सैद्धांतिक और राजनीतिक प्रशिक्षण के एक राजनीतिक रूप से परिपक्व आंदोलनात्मक रणनीति कुछ तरुण बना पा रहे थे।

प्रेस विधेयक तो वापस ले लिया गया। इस तरह प्रेमचंद रंगशाला का मुद्दा, जो कलाकारों के आंदोलन में दूसरे नंबर पर था, पहले नंबर पर आप-ही आप आ गया। 1982 से यह संघर्ष काफी लंबा चलने वाला था। शहर में सभा-गृहों का न होना या रंगशाला का बंद रहना क्यों महत्त्व का मुद्दा होना चाहिए, यह समझाना बड़ा कठिन था।

राजनीतिक दलों की इसमें जरा भी दिलचस्पी नहीं थी। प्रेस निहायत ही उदासीन था। उस समय बिहार में आर्यावर्त, प्रदीप, सर्चलाइट और इंडियन नेशन का राज था, आंदोलनकारी खबर लिए डोलते रहते थे और कृपापूर्वक भीतर के पृष्ठों पर कभी तीन तो कभी चार पंक्तियों की जरा सी जगह दे दी जाती थी। यह तो हिंदुस्तान टाइम्स था जिसने पहली बार इसे पहले पेज पर प्रकाशित किया।

वर्ष 1982 से प्रेमचंद रंगशाला को सीआरपीएफ के कब्जे से मुक्त कराने का यह कलाकारों का आंदोलन कई मायनों में दिलचस्प था। एक तो इसी कारण कि इसके नेतृत्व की औसत उम्र कोई बीस-इक्कीस साल की थी। दूसरे कि अलग-अलग काम करने वाले रंग-समूहों का किसी एक मसले पर भी साथ काम करना इतना आसान नहीं था। इसके नेतृत्व में इप्ता के लोग थे, लेकिन उनमें इतनी समझदारी थी कि वे खुद को ही आगे न रखें। उस समय पटना में सक्रिय संस्थाओं में सर्जना, नवजनवादी सांस्कृतिक मोर्चा, जनवादी कला-विचार मंच आदि ने इस आंदोलन की शुरुआत की और जल्दी ही पैंतीस से ऊपर रंगकर्मियों और लेखकों-कलाकारों की संस्थाएं इस मंच पर इकट्ठा हो गईं। इसके साथ छात्र संगठन भी

शरीक हो गए।

आंदोलन ने कई उतार-चढ़ाव देखे। ऐसा लगा कि इसका चलना ही मुश्किल है, क्योंकि कोई अंत नज़र नहीं आता था। 1985 में राज्य द्वारा आयोजित युवा महोत्सव के बहिष्कार और उसके समांतर प्रेमचंद युवा महोत्सव के आयोजन का आह्वान भी अनेक लोगों को दुस्साहस लगा। लेकिन इसे अपूर्व सफलता मिली। इसके बावजूद प्रेमचंद रंगशाला एक प्रादेशिक और क्षेत्रीय मुद्दा ही था। आंदोलनकारी भी पहले से अधिक वयस्क हो गए थे। उससे भी ज्यादा बड़ी बात यह थी कि उनमें से कुछ राष्ट्रीय स्तर पर आदर के साथ देखे जाने लगे थे, अपनी रंग-प्रतिभा के कारण। इसने बिहार तक सीमित इस मसले को राष्ट्रीय फलक प्रदान करने में मदद की। 1985 में गुवाहाटी के संगीत नाटक अकादेमी के नाट्य-उत्सव के मंच पर इसे उठाया गया और ब. व. कारंत ने खुल कर इस कब्जे की भर्त्सना की।

वर्ष 1987 में संगीत नाटक अकादेमी ने पटना में पूर्व-क्षेत्रीय नाट्योत्सव आयोजित किया। इसमें नेमिचंद जैन, ब. व. कारंत, रतन थियम, कुमार राय, देवाशीष मजुमदार जैसी शख्सियतें एकत्र हुईं। आंदोलनकारियों ने उद्घाटन के मंच पर कब्जा करके संपूर्ण भारतीय रंग-संसार से प्रेमचंद रंगशाला के उद्धार में हाथ बढ़ाने की अपील की। अगले दिन नेमिजी, कारंत, कुमार राय, देवाशीष मजुमदार के नेतृत्व में बड़ा प्रदर्शन हुआ और फिर ये सब तत्कालीन मुख्यमंत्री बिंदेश्वरी दुबे से मिलने गए। महोत्सव खत्म होने के दिन ही मुख्यमंत्री ने रंगशाला से सीआरपीएफ को हटा लेने की घोषणा की।

इस घोषणा के कोई चौथाई सदी गुजर जाने के बाद अब जाकर इस रंगशाला को फिर से इस लायक बनाया जा सका है कि इसमें नाटक हो सकें। इस मौके पर बिहार सरकार की विज्ञप्ति ने कलाकारों के संघर्ष को याद किया है। लेकिन रंगकर्मियों की आशंका कुछ और है। अभी पटना में कोई ऐसा प्रेक्षागृह नहीं जहां शौकिया रंग-समूह अपने सीमित साधनों में नाटक कर सकें। पचीस हजार से पचास हजार रुपए किराए पर हॉल लेकर नाटक करने की क्षमता किसी में नहीं।

फिर बड़े भव्य ढंग से तैयार की गई इस प्रेमचंद रंगशाला को भी क्या इसी तरह रंग-कर्म के लिए इतना महंगा कर दिया जाएगा कि उसमें नाटक हो ही न सकें। या जो सलूक इस सरकार ने हिंदी भवन के साथ किया, क्या वही इसके साथ भी होगा। एक सांस्कृतिक केंद्र के रूप में विकसित किए गए हिंदी भवन को प्रबंधन संस्थान के हवाले कर देने में सरकार को संकोच नहीं हुआ। लेखकों की गुहार को उसने बिल्कुल अनसुना कर दिया। क्या यह रंगशाला भी उसी राह जाएगी? फिर अभिव्यक्ति की जिस जगह के सिकुड़ने के खिलाफ यह रंगशाला एक प्रतीक बन गई थी, वह क्या दूसरे तरीके से उतनी ही संकुचित रह जाएगी?

आधार योजना का सच हो ही गया उजागर

■ गोपाल कृष्ण

ब्रिटेन की बदनाम हो चुकी परियोजना के पदचिन्हों पर चलते हुए यह भी कहा जा रहा था कि पहचान अंकपत्र से बच्चों को स्कूल में दाखिले में मदद मिलेगी। ब्रिटेन सरकार के हाल के निर्णय के बाद कहीं भारत में भी इस परियोजना को तिलांजलि न दे देनी पड़े...

दिसम्बर 13 को वित्त की संसदीय समिति की जो रिपोर्ट संसद के दोनों सदनों में पेश की गयी उसने ये जगजाहिर कर दिया की भारत सरकार की शारीरिक हस्ताक्षर या जैवमापन (बायोमेट्रिक्स) आधारित विशिष्ट पहचान अंक (यू.आई.डी./आधार परियोजना) असंसदीय, गैरकानूनी, दिशाहीन और अस्पष्ट है और राष्ट्रीय सुरक्षा और नागरिक अधिकारों के लिए खतरनाक है। बायोमेट्रिक पहचान तकनीक और खुफिया तकनीक के बीच के रिश्ते की पड़ताल अभी बाकी है।

यह संसदीय रिपोर्ट कहती है कि सरकार ने विश्व अनुभव की अनदेखी की है। इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया की मौजूदा पहचान प्रणाली को कारगर कैसे बनाया जाए। हैरानी की बात है कि जल्दबाजी में ऐसा कोई तुलनात्मक अध्ययन भी नहीं किया गया जिससे यह पता चलता की मौजूदा पहचान प्रणाली कितनी सस्ती है और आधार और जनसंख्या रजिस्टर जैसी योजनायें कितनी खर्चीली हैं। आज तक किसी को यह नहीं पता है कि आधार और जनसंख्या रजिस्टर पर कुल अनुमानित खर्च कितना होगा।

सरकार यह दावा कर रही थी कि यह परियोजना देशवासियों और नागरिकों को सामाजिक सुविधा उपलब्ध कराने की परियोजना है। अब यह पता चला है कि इस योजना के पैरोकार गाड़ियों और जानवरों पर भी ऐसी ही योजना लागू करने की सिफारिश कर चुके हैं, ये बातें परत दर परत सामने आ रही हैं।

यह परियोजना 14 विकासशील देशों में फ्रांस, दक्षिण कोरिया और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की कंपनियों और विश्व बैंक के एक पहल के ज़रिये लागू की जा रही है। दक्षिण एशिया में यह पाकिस्तान में लागू हो चुकी है और नेपाल और बंगलादेश में लागू किया जा रहा है।

संसदीय समिति ने कानूनविदों, शिक्षाविदों और

मानवाधिकार कार्यकर्ताओं की इस बात को माना है कि यह देशवासियों के निजी जीवन पर एक तरह का हमला है जिसे नागरिक स्वतंत्रता और मानवाधिकार के हनन के रूप में ही समझा जा सकता है। समिति ने अपनी रिपोर्ट में ब्रिटेन सरकार द्वारा ऐसे ही पहचान-पत्र कानून 2006 को समाप्त करने के फैसले का भी जिक्र किया है जिसका उद्घरण देश के न्यायाधीशों ने दिया था।

भारत में इस बात पर कम ध्यान दिया गया है कि कैसे विराट स्तर पर सूचनाओं को संगठित करने की धारणा चुपचाप सामाजिक नियंत्रण, युद्ध के उपकरण और जातीय समूहों को निशाना बनाने और प्रताड़ित करने के हथियार के रूप में विकसित हुई है। भारत के निर्धनतम लोगों तक पहुंचने में 12 अंकों वाला आधार कार्ड सहायक होने का दावा करने वाले इस विशिष्ट पहचान परियोजना को विश्व इतिहास के सन्दर्भ में नहीं देखा गया।

खासतौर पर जर्मनी और आमतौर पर यूरोप के अनुभवों को नज़रअंदाज़ करके, निशानदेही को सही मानकर वित्तमंत्री ने 2010-2011 का बजट संसद में पेश करते हुए फर्माया कि यू.आई.डी. परियोजना वित्तीय योजनाओं को समावेशी बनाने और सरकारी सहायता (सब्सिडी) ज़रूरतमंदों तक ही पहुंचाने के लिए उनकी निशानदेही करने का मजबूत मंच प्रदान करेगी। जबकि यह बात दिन के उजाले की तरह साफ है कि निशानदेही के यही औज़ार किसी खास धर्मा, जातियों, क्षेत्रों, जातीयताओं या आर्थिक रूप से असंतुष्ट तबकों के खिलाफ भी इस्तेमाल में लाए जा सकते हैं।

भारत में राजनीतिक कारणों से समाज के कुछ तबकों का अपवर्जन लक्ष्य करके उन तबकों के जनसंहार का कारण बना- 1947 में, 1984 में और सन् 2002 में। अगर एक समग्र अध्ययन कराया जाए तो उससे साफ हो जाएगा कि

किस तरह संवेदनशील निजी जानकारियां और आंकड़े जिन्हें सुरक्षित रखा जाना चाहिए था, वे हमारे देश में दंगाइयों और जनसंहार रचाने वालों को आसानी से उपलब्ध थे।

भारत सरकार भविष्य की कोई गारंटी नहीं दे सकती। अगर नाजियों जैसा कोई दल सत्तारूढ़ होता है तो क्या गारंटी है कि यू.आई.डी. के आंकड़े उसे प्राप्त नहीं होंगे और वह बदले की भावना से उनका इस्तेमाल नागरिकों के किसी खास तबके के खिलाफ नहीं करेगा?

योजना आयोग की यू.आई.डी. और गृह मंत्रालय की राष्ट्रीय जनसंख्या रजिस्टर वही सब कुछ दोहराने का मंच है जो जर्मनी, रूमानिया, यूरोप और अन्य जगहों पर हुआ जहां वह जनगणना से लेकर नाजियों को यहूदियों की सूची प्रदान करने का माध्यम बना। यू.आई.डी. का नागरिकता से कोई संबंध नहीं था, वह महज निशानदेही का साधन है। दरअसल यह जनवरी 1933 से जनवरी 2011 तक के खुफिया निशानदेही के प्रयासों का सफरनामा है।

इस पृष्ठभूमि में, ब्रिटेन की साझा सरकार द्वारा विवादास्पद राष्ट्रीय पहचानपत्र योजना को समाप्त करने का निर्णय वैसे ही स्वागत योग्य है जैसे अपनी संसदीय समिति की अनुशंसा, ताकि नागरिकों की निजी ज़िंदगियों में हस्तक्षेप से उनकी सुरक्षा हो सके।

पहचानपत्र कानून 2006 और स्कूलों में बच्चों की उंगलियों के निशान लिए जाने की प्रथा का खात्मा करने के साथ-साथ ब्रिटेन सरकार अपना राष्ट्रीय पहचानपत्र रजिस्टर बंद कर देगी। वहां की सरकार ने घोषणा की है कि अगले कदम में (बायोमेट्रिक) जैवसांख्यिकीय पासपोर्ट, सम्पर्क-बिन्दुओं पर इकट्ठा किये जाने वाले आंकड़ों तथा इंटरनेट और ई-मेल के रिकार्ड का भंडारण खत्म किया जाएगा।

18 मई, 2010 की प्रेस विज्ञप्ति में भारत सरकार ने बताया था कि कैबिनेट कमेटी ने भारतीय विशिष्ट पहचान प्राधिकरण द्वारा निवासियों के जनसांख्यिकीय और बायोमेट्रिक आंकड़ों को इकट्ठा करने की जो पद्धति सुझाई है, उसे सिद्धांततः स्वीकार कर लिया है। इसमें चेहरे, नेत्रगोलक (पारितारिका) की तस्वीर लेने और सभी दस उंगलियों के निशान लेने का प्रावधान है।

इसमें 5 से 15 आयुवर्ग के बच्चों के नेत्रगोलक के आंकड़े इकट्ठा करना शामिल है। इन्हीं मानकों और प्रक्रियाओं को जनगणना के लिए रजिस्ट्रार जनरल ऑफ इंडिया और यू.आई.डी. व्यवस्था के अन्य रजिस्ट्रारों को भी अपनाना पड़ेगा। संसदीय समिति ने सरकार के इस कदम को असंवैधानिक और कार्यपालिका के अधिकार से बाहर पाया।

भारत की आधार परियोजना की ही तरह ब्रिटेन में भी इसका कभी कोई उद्देश्य बताया जाता था, कभी कोई। इस

परियोजना को गरीबों के नाम पर थोपा जा रहा था। कहा जा रहा था कि पहचान का मसला राशन कार्ड, ड्राइविंग लाइसेंस, पासपोर्ट, बैंक खाता, मोबाइल कनेक्शन आदि लेने में अवरोध उत्पन्न करता है। पहचान अंक पत्र गरीब नागरिकों को शिक्षा, स्वास्थ्य और वित्तीय सेवाओं सहित अनेक संसाधन प्राप्त करने योग्य बनाएगा।

ब्रिटेन की बदनाम हो चुकी परियोजना के पदचिन्हों पर चलते हुए यह भी कहा जा रहा था कि पहचान अंकपत्र से बच्चों को स्कूल में दाखिले में मदद मिलेगी। ब्रिटेन सरकार के हाल के निर्णय के बाद कहीं भारत में भी इस परियोजना को तिलांजलि न दे देनी पड़े, इस बात की आशंका के चलते अब सरकार के द्वारा कहा जा रहा था यह वैकल्पिक है अनिवार्य नहीं जबकि हकीकत कुछ और ही थी।

योजना मंत्रालय की आधार यानि यू.आई.डी. योजना से गृह मंत्रालय का राष्ट्रीय जनसंख्या रजिस्टर (एन.पी.आर.) परियोजना शुरू से ही जुड़ा हुआ था जिसका खुलासा प्रधानमन्त्री द्वारा दिसम्बर 4, 2006 को गठित शक्ति प्राप्त मंत्रिसमूह की घोषणा से होता है जिसकी तरफ कम ध्यान दिया गया है। यह पहली बार है कि जनसंख्या रजिस्टर बनाया जा रहा है।

इसके जरिए रजिस्ट्रार जनरल ऑफ इंडिया जो कि सेन्सस कमिश्नर भी हैं देशवासियों के आंकड़ों का भंडार तैयार करेंगे। यह समझ ज़रूरी है कि जनगणना और राष्ट्रीय जनसंख्या रजिस्टर अलग-अलग चीजें हैं।

जनगणना जनसंख्या, साक्षरता, शिक्षा, आवास और घरेलू सुविधाओं, आर्थिक गतिविधि, शहरीकरण, प्रजनन दर, मृत्युदर, भाषा, धर्म और प्रवासन आदि के संबंध में बुनियादी आंकड़ों का सबसे बड़ा स्रोत है जिसके आधार पर केंद्र व राज्य सरकारें योजनाएं बनाती हैं और नीतियों का क्रियान्वयन करती हैं, जबकि राष्ट्रीय जनसंख्या रजिस्टर देशवासियों और नागरिकों के पहचान संबंधी आंकड़ों का समग्र भंडार तैयार करने का काम करेगा।

इसके तहत व्यक्ति का नाम, उसके माता, पिता, पति-पत्नी का नाम, लिंग, जन्मस्थान और तारीख, वर्तमान वैवाहिक स्थिति, शिक्षा, राष्ट्रीयता, पेशा, वर्तमान और स्थायी निवास का पता जैसी तमाम सूचनाओं का संग्रह किया जाएगा। इस आंकड़ा-भंडार में 15 साल की उम्र से ऊपर सभी व्यक्तियों की तस्वीरें और उनकी उंगलियों के निशान भी रखे जाएंगे।

राष्ट्रीय जनसंख्या रजिस्टर के आंकड़ा-भंडार को अंतिम रूप देने के बाद, अगला कार्यभार होगा हर नागरिक को विशिष्ट पहचान पत्र प्रदान करना। प्रस्तावित यह था कि पहचानपत्र एक तरह का स्मार्ट-कार्ड होगा जिसके ऊपर आधार पहचान अंक के साथ व्यक्ति का नाम, उसके माता,

पिता, पति-पत्नी का नाम, लिंग, जन्मस्थान और तारीख, फोटो आदि बुनियादी जानकारियां छपी होंगी। सम्पूर्ण विवरण का भंडारण चिप में होगा।

ब्रिटेन की ही तरह यहां भी 1.2 अरब लोगों को विशिष्ट पहचान अंक देने की कवायद को रोके जाने की ज़रूरत थी, क्योंकि मानवाधिकार उल्लंघन की दृष्टि से इसके खतरे कल्पनातीत हैं इसे संसदीय समिति ने समझा है।

बिना संसदीय सहमति के 13वें वित्त आयोग ने प्रति व्यक्ति 100 रुपए और प्रति परिवार 400-500 रुपए गरीब परिवारों को विशिष्ट पहचान अंक के लिए आवेदन करने हेतु प्रोत्साहन के बतौर दिए जाने का प्रावधान किया था। यह गरीबों को एक किस्म की रिश्त ही है। इस उद्देश्य के लिए आयोग ने राज्य सरकारों को 2989.10 करोड़ की राशि मुहैया कराने की संस्तुति की है।

सवाल यह है कि सरकार ने नागरिकों के उंगुलियों के निशान, नेत्रगोलक की छवि जैसे जैवमापक आंकड़ों का संग्रह करने के बारे में विधानसभाओं और संसद की मंजूरी क्यों नहीं ली और इस बात को क्यों नज़रअंदाज़ किया की ऐसी ही परियोजना को ब्रिटेन में समाप्त कर दिया गया है?

प्राधिकरण की ही जैवमापन मानक समिति (बायोमेट्रिक्स स्टैंडर्ड्स कमिटी) ने यह खुलासा किया कि जैवमापन सेवाओं के निष्पादन के समय सरकारी विभागों और वाणिज्यिक संस्थाओं द्वारा प्रामाणिकता स्थापित करने के लिए किया जाएगा। यहां वाणिज्यिक संस्थाओं को परिभाषित नहीं किया गया।

जैवमापन मानक समिति जैवमापन में अमेरिका और यूरोप के पिछले अनुभवों का भी हवाला दिया और कहा कि जैवमापक आंकड़े राष्ट्रीय निधि हैं और उन्हें उनके मौलिक रूप में संरक्षित किया जाना चाहिए। समिति नागरिकों के आंकड़ाकोष को राष्ट्रीय निधि बताती है। यह निधि कब कंपनियों की निधि बन जाएगी कहा नहीं जा सकता।

संसदीय समिति ने यह समझा कि ऐसी योजनायें आम नागरिक समाज के खिलाफ हथियार के रूप में इस्तेमाल हो सकते हैं। समिति इसे संसद के विशेषाधिकार के हनन का मामला मानती है कि विधेयक के पारित हुए बिना ही 3 करोड़ 73 लाख यूनिक आइडेन्टिटी नंबर आधार संख्या बना लिए।

विशिष्ट पहचान अंक और राष्ट्रीय जनसंख्या रजिस्टर सरकार द्वारा नागरिकों पर नज़र रखने के उपकरण हैं। ये परियोजनाएं न तो अपनी संरचना में और न ही अमल में निर्दोष हैं। विशिष्ट पहचान अंक प्राधिकरण के कार्य योजना प्रपत्र में कहा गया है कि विशिष्ट पहचान अंक सिर्फ पहचान की गारंटी है, अधिकारों, सेवाओं या हकदारी की

गारंटी नहीं। आगे यह भी कहा गया है कि यह पहचान की भी गारंटी नहीं है, बल्कि पहचान नियत करने में सहयोगी है।

एक गहरे अर्थ में यशवंत सिन्हा की अध्यक्षता वाली संसद की स्थायी समिति विशिष्ट पहचान अंक जैसे खुफिया उपकरणों द्वारा नागरिकों पर सतत नज़र रखने और उनके जैवमापक रिकार्ड तैयार करने पर आधारित तकनीकी शासन की पुरजोर मुखालफत करने वाले व्यक्तियों, जनसंगठनों, जन आंदोलनों, संस्थाओं के अभियान का समर्थन करती है।

समिति यह अनुशंसा करती है कि संसद बायोमेट्रिक डाटा को इकट्ठा करने के कृत्य की जांच करे। जनसंगठनों की मांग है कि सी.ए.जी. विशिष्ट पहचान अंक प्राधिकरण की कारगुजारियों की जांच करे और इसके और जनसंख्या रजिस्टर द्वारा किये जा रहे कारनामों को तत्काल रोका जाये। देशवासियों के पास अपनी संप्रभुता को बचाने के लिए आधार अंक योजना और जनसंख्या रजिस्टर का बहिष्कार ही एक मात्र रास्ता है।

गौरतलब है कि कैदी पहचान कानून, 1920 के तहत किसी भी कैदी के उंगुलियों के निशान को सिर्फ मजिस्ट्रेट की अनुमति से लिया जाता है और उनकी रिहाई पर उंगुलियों के निशान के रिकॉर्ड को नष्ट करना होता है। कैदियों के ऊपर होने वाले जुल्म की अनदेखी की यह सजा कि अब हर देशवासी को उंगुलियों के निशान देने होंगे और कैदियों के मामले में तो उनके रिहाई के वक्त नष्ट करने का प्रावधान रहा है, इन योजनाओं के द्वारा देशवासियों के पूरे शारीरिक हस्ताक्षर का रिकॉर्ड रखा जा रहा है।

यह एक ऐसे निजाम के कदमताल की गूंज है जो नागरिकों को कैदी सरीखा मानता है। बायोमेट्रिक डाटाबेस आधारित राजसत्ता का आगाज हो रहा है बावजूद इसके जानकारी के अभाव में कुछ व्यस्त देशवासियों को बायोमेट्रिक तकनीक वाली कंपनियों के प्रति प्रचार माध्यम द्वारा तैयार आस्था चौकाने वाली है।

मगर लाजवाब बात तो यह है कि उन कर्मचारियों से यह आशा कैसे की जा सकती है कि वो बायोमेट्रिक निशानदेही की मुखालफत करेंगे जो अपने दफ्तरों में बायोमेट्रिक हस्ताक्षर करके अन्दर जाते हैं। ऐसे में संसदीय समिति की सिफारिशों में एक उम्मीद की किरण दिखती है। कुछ राज्यों ने भी केंद्र सरकार को ऐसी परियोजनाओं के संबंध में आगाह किया है। संसद और राज्य की विधान सभाओं को संसदीय समिति के सिफारिशों को सरकार से अमल में लाने के लिए तत्काल निर्णय लेने होंगे।

साभार : जनज्वार डॉट कॉम

आदिवासी हकों को छीनने की कार्ट साजिश

■ फैसल अनुराग

टाल्सटाय ने एक सवाल पूछा था : एक इंसान को कितनी ज़मीन चाहिए। आज के संदर्भ में यह सवाल पूछा जाना चाहिए कि जिसे विकास कहा जाता है वह कितनी संस्कृतियों, जनसमाजों और अस्मिताओं को कुचलते हुए ज़मीन के लिए संविधानेतर जंग कर रहा है। क्योंकि झारखंड के लिए बुनियादी सवाल है कि क्या संविधान जिन कानूनों की गारंटी करता है उसे सही तरीके से अमल में लाया गया। क्या संविधान की पांचवी अनुसूची का अनुपालन हुआ। और यदि 1952 से अब तक पांचवीं अनुसूची के प्रावधानों का खुला उल्लंघन हुआ तो उसके लिए कौन लोग जबाबदेह हैं और उनके लिए क्या सजा है। जब उद्योग और विकास के दावे और सपने दिखाए जाते हैं तो क्या वे 30 लाख झारखंडियों की कोई आकृति उभरती है जिन्हें विकास और देशहित के नाम पर उजाड़ दिया गया और जिनकी ज़िंदगी के सारे स्वाभिमान और सांस्कृतिक अस्मिता को नष्ट कर दिया गया। जब कभी इन सवालों को उठाया जाता है तो विकासविरोधी करार कर इन तर्कों को खारिज करने की नाकायाब कोशिश की जाती है। पंचशील के उन सूत्रों की याद तो किसी को भी शायद ही होगी जिसे आदिवासी इलाकों के लिए एक प्रतिबद्धता के तौर पर अपनाया गया था। जहां साफ कहा गया था कि आदिवासी इलाकों में ऐसी कोई प्रक्रिया नहीं अपनायी जाएगी जिससे इलाके के लोगों की संस्कृति प्रभावित होती हो और विकास के ऐसे मानक गढ़े जाएंगे जिसे स्थानीय लोग स्वीकार करें। इसमें सबसे ज्यादा जोर इस बात पर दिया गया था कि खर्च की गयी राशि विकास का मानक नहीं होगा बल्कि लोगों की गुणवत्ता के विकास के आधार पर मूल्यांकन किया जाएगा। बाद में बने पेसा एक्ट और उसके लिए बनी भूरिया समिति की रिपोर्ट का क्या हाल है किसी से छुपा हुआ नहीं है।

इस बात को गंभीरता से समझना चाहिए कि विल्किंसन कानून, संतालपगरना काश्तकारी अधिनियम और छोटानागपुर काश्तकारी अधिनियम केवल कानून नहीं है। यही तीन संधियां

हैं जिन्हें अंग्रेजों ने आदिवासियों व मूलवासियों के साथ किया। क्योंकि अंग्रेज जान गए थे कि झारखंड को जंग से नहीं जीता जा सकता। एक अंग्रेज अधिकारी ने लिखा था कि जब भारत के अनेक हिस्सों के राजा घुटना टेकने और सुविधाएं हासिल करने के लिए बेचैन हैं तब झारखंड के आदिवासियों ने हथियार डालने और समझौता करने से इंकार कर दिया। जब अंग्रेजों ने सहजीवन की एक रणनीति और प्रपंच का सहारा लिया। वे झारखंडियों के साथ संधि करने के लिए बाध्य हुए और आदिवासियों की स्वायत्तता को स्वीकार किया। खूंटकटी गांवों का इतिहास इसकी प्रबल गवाही देता है। यानी इन कानूनों और संधियों को हासिल किया गया भारी कुर्बानी दे कर। इन संघर्षों के अपने सपने थे और वे आज भी जीवित है। बिरसा मुंडा के सहयोगी नरसिंह मुंडा की यह आवाज आज भी डुंबारी की फिजाओं में गूंजती है : 'हमारे दिसुम में हमारी इजाजत के बिना दिक्कू कैसे घुस आए हैं।' यदि हम चाहते हैं कि एक नया झारखंड और उन्नत झारखंड का नवनिर्माण किया जाए तो हमें इस संदर्भ और इसके संदेश को ध्यान में रखना होगा। आदिवासी विद्रोहों की परंपरा के अंतर्निहित कारकों को समझना होगा और प्रकृति और मानव के बीच आदिवासी सहजीवन की प्रवृत्ति को भी समझना होगा। आदिवासी मान्यता के अनुसार जमीन खरीद बिक्री की वस्तु नहीं है। आदिवासी जनगण मानता है कि वह केवल एक न्यासी है जो पुरखों से हासिल जमीन का संरक्षण करता है ताकि भावी पीढ़ियों तक उसे हस्तांतरित कर दे। यह एक व्यापक नजरिया है और इसे पिछड़ापन बताने वालों को समझना चाहिए कि वे किस नजरिए से प्रकृति को देखते हैं। आदिवासी जनगण का नजरिया वैज्ञानिक है। वे जानते हैं कि जिन बातों को दार्शनिक तौर पर अन्य समाजों ने अपनाया है वे उसे जीते हैं। आदिवासी जनसमाज को मुनाफाखोर बनाने की प्रवृत्तियों से बचने की जरूरत है। क्या विकास का अर्थ केवल मुनाफा कमाना है और इस मुनाफे के लिए न जाने कितने तरह के तर्क गढ़े जाते हैं लेकिन पूंजी का संचय और

विकास की पूरी अवधारणा से मुनाफे का निषेध नहीं किया जाता। दरअसल विकसित बनने के सपने में समानता के महान मूल्यों का हनन होता है। दुनिया का इतिहास यही बताता है। महान अर्थशास्त्री किंस जिन्होंने 1930 के दशक में महान मंदी से उबरने के लिए कल्याणकारी राज्य जैसी अवधारणाओं को पुख्ता किया था उन्होंने भी सोवियत संघ के नेता स्टालिन को लिखे एक पत्र में स्वीकार किया था कि विकास और पूंजी से उभरती असमानता का यह दौर दीर्घकालिक नहीं है। उसी पत्र में यह भी लिखा था कि उत्पादन के साधन को भी बदलना होगा अन्यथा मानव समाज एक भयानक त्रासदी में फंस जाएगा। अनेक कालखंडों की मंदियों के बाद भी यदि कोई सबक नहीं हासिल किया जाता है तो अचरज होता है। कोपेनहेगेन में जब क्लाइमेट क्राइसिस की बात करने दुनियाभर के शासक जुटते हैं और विचारक भी तो वे आदिवासी परंपराओं और उनकी जीवन शैली को आदर्श बताने से नहीं हिचकते लेकिन उनका निशाना वह संसाधन ही होता है जिसे आदिवासी अपनी जनतांत्रिकता और स्वायत्तता के लिए ज़रूरी मानते हैं। काश्तकारी अधिनियमों को इस व्यापक संदर्भ में देखने की ज़रूरत है और इसे और सक्षम बनाने की ज़रूरत है। खास कर 1970 के दशक में किए गए संशोधनों से इसे मुक्त किया जाना चाहिए जिसने आदिवासियों की जमीन की लूट की राह को प्रशस्त किया। बिरसा उलगुलान के दौरान एक गीत गाया जाता था जिसे आज भी आदिवासी गाते हैं। इस गीत का अर्थ है : 'देखो काली आंधी चारों ओर से हमें घेर रही है। एक गहरा तूफान आ रहा है और तेज हवा के झोंके में हमारी जमीन धूल की तरह उड़ती रही है। उठो आदिवासियों अपनी जमीन की रक्षा करो।' और यह केवल झारखंड का आदिवासी दर्द नहीं है। आदिवासियों की जमीन विभिन्न कानूनों और संधियों के बाद भी छीनी गयी और उनका क्या इस्तेमाल हुआ। झारखंड में ज़मीन लूट के कारण सिंचाई का रकवा घटा है। जिस मकसद से जमीन का अधिग्रहण हुआ है उसमें जनगण के साथ धोखा हुआ है। विकास के नाम पर जिन द्वीपों को झारखंड में उभरा गया है उसके गहरे सामाजिक सांस्कृतिक अंतरविरोध अब तीक्ष्ण होते जा रहे हैं। ऐसे हालात में यदि काश्तकारी अधिनियमों को बदलने की बात की जाती है तो इसका साफ अर्थ है कि झारखंड के संसाधनों को लूटने के लिए रास्ता बनाने की वकालत की जा रही है। इन जमीनों को झारखंडी पुरखों ने

खतरनाक जंगली जानवरों के जबड़े से छीन कर इसलिए नहीं संरक्षित किया कि कोई भी उनके नैसर्गिक हक को छीन लेगा और प्रपंच के सहारे उन्हें एक उजरते मजदूर में बदल देगा। बड़े पैमाने पर आदिवासी मूलवासियों के साथ ऐसा हो चुका है। औद्योगीकरण की प्रक्रिया और उसके मकसद पर थोड़ा ठहर कर विचार करने की ज़रूरत है। उद्योग और तकनीक की अनिवार्यता को कोई नहीं नकारता लेकिन उसके लिए किस तरह के नजरिए और रणनीति की ज़रूरत है यह गंभीर विचार का सवाल है। जहां तक आदिवासी जनगण का सवाल है दुनिया में तकनीक के ईजाद में उनकी ऐतिहासिक भूमिका को खारिज नहीं किया जा सकता। देश के बड़े बुद्धिजीवी हर समय गांधी के हिंद स्वराज का हवाला देते हैं लेकिन पता नहीं क्यों उसे केवल एक ऐसी किताब में बदल देते हैं जिससे सभ्यताओं की आलोचना तो की जा सकती है उसके विकास के तरीके को नहीं बदला जा सकता। आदिवासी संदर्भ में यह एक अत्यंत गहरा संवाद है कि प्रकृति और मानव का सहजीवन ही किसी उन्नति का आधार है। क्या यह बताने की कोशिश की जा सकती है कि अब तक जिन तरीकों को अपना कर विकास का रास्ता बनाया गया है उससे सामाजिक अंतरविरोध और गहन असामनता ही क्यों उत्पन्न होती है। इस सवाल को खारिज कर आगे का कोई रास्ता शायद न निकल पाएगा।

वोलेविया जैसा एक छोटा देश अमरीकी प्रभुत्व को खारिज करते हुए जब द मदर अर्थ कानून बनाता है तो उसका संदेश क्या है। इवो मारोलेस एक देशज नेता है जिन्होंने प्राकृतिक संसाधनों की साम्राज्यादी लूट के खिलाफ यह कानून बना कर साहस दिखाया है। यह कानून जनसंप्रभुता और संसाधनों पर जनहक की गारंटी करता है। हमारे झारखंड के भूमि कानूनों में भी यही बात कही गयी है। झारखंड को उन्नत बनाना है और न्याय के साथ शांति की स्थापना करनी है तो संसाधनों की खतरनाक लूट को रोकना होगा और इसके लिए ज़रूरी है कि विकास उद्योग और स्वशासी झारखंड के अंतरविरोधों को दूर करते हुए ऐतिहासिक तौर पर नया कदम उठाने का साहस दिखाना होगा। डॉ. कुमार सुरेश सिंह अक्सर कहा करते थे कि झारखंडियों और खास कर आदिवासियों का इतिहासबोध अत्यंत गहरा है। इसका निहितार्थ साफ है कि जब तक झारखंडियों के संसाधनों पर अधिकार के नैसर्गिक हक की गारंटी नहीं की जाएगी तब तक शायद उन्नति का मार्ग भी प्रशस्त नहीं होगा।

सावित्री बाई फुले (1831-1897)

■ प्रमिला दंडवते

हमारी दृष्टि में 1848 दो कारणों से एक क्रांतिकारी वर्ष है। पहला तो यह कि उस वर्ष मार्क्स और एंजिल्स ने कम्युनिस्ट घोषणा पत्र (मेनिफैस्टो) प्रकाशित किया, जिसने समूचे विश्व को हिला दिया तथा दुनिया भर के सताये व कुचले हुए लाखों लोगों को अपनी नियति बदल डालने के लिए प्रेरित किया; और दूसरा यह कि महाराष्ट्र राज्य के पुणे नगर में शुरू की गयी सामाजिक क्रांति की जननी सावित्री बाई फुले ने रूढ़िपंथियों द्वारा किये गए घोर विरोध तथा उनके द्वारा डाली गयी दुर्लभ बाधाओं के बावजूद प्रथम महिला विद्यालय की नींव रखी।

सावित्री बाई का जन्म महाराष्ट्र के सतारा जिले में नैगांव के एक संपन्न किसान परिवार में 3 जनवरी, 1831 को हुआ था। वे सुंदर और स्वस्थ थीं। 9 वर्ष की आयु में उनका विवाह ज्योतिबा फुले के संग हुआ। ऊंची जाति के लोगों ने विवाह संस्कार के अवसर पर उनके पति ज्योतिबा को अपने से नीची जाति में विवाह करने के लिए अपमानित किया, जिससे वे इतने क्षुब्ध हो उठे कि उन्होंने दलित वर्ग को गरिमा दिलाने के लिए समाज पर उच्च जाति के प्रभुत्व के विरुद्ध विद्रोह करने की प्रतिज्ञा कर ली। उन्होंने जीवन भर हर प्रकार के भेदभाव के विरुद्ध संघर्ष किया। वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि व्यक्ति के विकास के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता शिक्षा है। उन्होंने स्वयं हिंदू धर्म ग्रंथों का गहन अध्ययन किया तथा इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि समस्त मनुष्य एक समान जन्मे हैं तथा असमानताएं मनुष्य ने उत्पन्न की हैं। वे ऐसा मानते थे कि असमानताओं को प्रश्रय देने वाली मान्यताओं का उदय उच्च जातियों के रूढ़िवादियों से होता है। उच्च जातियों ने समस्त शिक्षा संस्थाओं पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया तथा अन्य जातियों को उससे वंचित कर दिया। निर्धनता, अज्ञान और शिक्षा के अभाव के कारण व्यापक असमानताएं उत्पन्न हो गयी थीं।

ज्योतिबा विधवाओं और पुरुषों द्वारा सतायी जाने वाली अन्य महिलाओं की दुर्दशा नहीं सह सकते थे। उनकी मुसीबतों के मूल कारण अज्ञान और अशिक्षा थे। अतः उन्होंने स्त्रियों को जिन्हें अज्ञान के अधियारे में रखा गया, शिक्षा प्रदान करने का संकल्प लिया।

ज्योतिबा के योगदान को तभी सराहा जा सकता है जब हम उस कालखंड में महिलाओं और अछूतों की स्थिति को समझते हों। वे पुणे को अपनी राजधानी बनाकर शासन करने तथा समाज पर अपनी छाप डालने वाले पेशवा शासन की रीति-नीति के सबसे अंधकारपूर्ण दिन थे। उस समय स्त्रियों को पुरुषों के उपभोग की वस्तु माना जाता था। अनुसूचित जातियों की स्त्रियों को निर्वस्त्र नृत्य करने के लिए

विवश किया जाता था। अछूतों के प्रति अपमानजनक व्यवहार होता था। उन्हें सुबह-शाम सड़कों पर निकलने की मनाही थी जिससे कि उनकी लंबी परछाइयां उच्च जाति के लोगों को 'अपवित्र' न कर सकें। उन्हें अपनी कमर पर पेड़ की एक डाली बांधनी पड़ती थी जिससे सड़क पर गुजरते हुए वह डाली उस स्थान को बुहारती उनके पीछे-पीछे घिसटती जाए। उन्हें अपनी गर्दन में एक थूकदान लटकाना पड़ता था, जिससे कि उनका थूक सड़क को गंदा न कर पाए। उन्हें अपने साथ एक घंटी ले जानी पड़ती थी, जिससे कि उच्च जाति के लोग उसकी आवाज़ सुनकर उधर से जाते समय अपना रास्ता बदल लेते। अछूतों को पवित्र मंत्रों का उच्चारण सुनने तक की अनुमति न थी।

ज्योतिबा ने समाज में फैली हुई अज्ञानता के विरुद्ध संघर्ष करने का निश्चय कर लिया। उन्होंने स्त्रियों को शिक्षित करने का बीड़ा उठाया। उन्होंने सोचा कि इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उन्हें शिक्षिकाओं की आवश्यकता होगी, अतः सबसे पहले अपनी पत्नी को पढ़ाने और प्रशिक्षण दिलाने का निश्चय किया। ज्योतिबा को प्रतिदिन काम करने खेत पर जाना होता था। तीसरे पहर उनकी पत्नी उनका भोजन पहुंचाने के लिए खेत पर आती थीं। ज्योतिबा ने उस अवसर का लाभ उन्हें पढ़ाने के लिए उठाना शुरू कर दिया। धीरे-धीरे यह समाचार उनके पिता के कानों तक पहुंच गया। उन्होंने रूढ़िवादी तत्वों के आक्रमण के भयवश अपने बेटे को घर से निकालने की धमकी दी।

सावित्री बाई को तय करना था कि वे अपने पति के साथ जाएंगी या ससुराल में रहेंगी। उन्होंने पति के संग रहना ठीक समझा।

ज्योतिबा ने उन्हें पढ़ाना जारी रखा। उसके पश्चात् उन्हें प्रशिक्षण विद्यालय में भरती कराया गया जहां से वे एक मुस्लिम महिला फातिमा शेख के साथ ऊंचे अंक प्राप्त करके उत्तीर्ण हुईं। अध्ययन पूरा हो जाने पर सावित्री बाई ने अपने पति के साथ मिलकर 1848 में पुणे में एक बालिका विद्यालय स्थापित किया। विद्यालय में प्रवेश लेने वाली नौ लड़कियां अलग-अलग जातियों की थीं। सावित्री बाई का सवरे घर से निकलकर विद्यालय पहुंचना अत्यंत दूभर था। रूढ़िवादी समाज इस दुस्साहस को सहन करने के लिए तैयार न था। नारी शिक्षा पर नाक-भौं सिकोड़ी जाती थी। ऐसा माना जाता था कि यदि कोई स्त्री लिखना शुरू कर देगी तो वह सब लोगों को पत्र लिखने लगेगी। उनका दावा था कि उसके पति का भोजन कीड़ों में बदल जाएगा तथा उसकी अकाल मृत्यु हो जाएगी।

पुरुष-प्रधान जगत में विरोध पर विजय प्राप्त किए बिना कुछ भी प्राप्त करना महिलाओं के सम्मुख एक चुनौती भरा कार्य रहा है। कहा जाता है कि सावित्री बाई जब घर से बाहर जातीं तो पुराणपंथी

पुरुषों के झुंड उनके पीछे लग जाते। वे उन्हें अभद्र भाषा में गालियां सुनाते, उन पर सड़े हुए टमाटर, अंडे, गोबर और पत्थर फेंकते। वे सिर झुकाये चलती जातीं और विद्यालय पहुंच जातीं। इस व्यवहार से वे ऊब गयीं और उन्होंने पढ़ाना बंद करने का निर्णय तक कर डाला। परंतु अपने पति के प्रोत्साहन पर अपना प्रयास जारी रखा। ज्योतिबा ने उन्हें दो साड़ियां दीं। मोटी साड़ी विद्यालय जाते समय पहनने के लिए थी, जिस पर उन्हें समाज द्वारा फेंकी गयी सारी गंदगी झेलनी थी। दूसरी साड़ी विद्यालय पहुंचने पर कक्षा आरंभ होने से पहले बदलने के लिए थी। घर लौटते समय वे गंदी साड़ी को पुनः धारण कर लेतीं। यह यंत्रणा एक लंबे समय तक चली और तब समाप्त हुई जब सावित्री बाई को उस व्यक्ति को थप्पड़ जड़ना पड़ा जिसने उनके साथ हाथापाई करने की कोशिश की थी। उस थप्पड़ ने उनकी यंत्रणा को समाप्त कर दिया और वे पढ़ाती रहीं। धीमे किंतु निरंतर प्रयास से वे अपने कार्य में सफल हो गयीं। उन्होंने और अधिक विद्यालय खोले अंततः ब्रिटिश सरकार ने शिक्षा के क्षेत्र में उनके कार्य के लिए उन्हें सम्मानित किया। 1852 में सरकार की ओर से ज्योतिबा और सावित्री बाई दोनों का अभिनंदन विश्रामबाग में किया गया तथा उन्हें शॉल ओढ़ाये गये।

सावित्री बाई ने अपने पति को शिक्षा संबंधी गतिविधियों में सहयोग देने के अतिरिक्त उनके द्वारा छोड़े गए प्रत्येक सामाजिक संघर्ष में उनका साथ दिया। एक बार ज्योतिबा ने एक महिला को नदी की ओर जाते हुए देखा वे उसके पीछे-पीछे चल दिए। उनके मन में संदेह उत्पन्न हो गया कि वह आत्महत्या करना चाहती है। वह नदी तट पर पहुंची तब तक ज्योतिबा भी वहां पहुंच गए तथा घर लौटने के लिए समझा-बुझा कर तैयार कर लिया। उन्होंने उसे आश्वासन दिया कि वे अपने आपको उस बालक का पिता समझेंगे जो उसकी कोख में पल रहा है। बहुत समझाने-बुझाने पर ही उसे उनकी बात पर विश्वास हुआ। उसके बाद उसे घर लाया गया जहां सावित्री बाई ने उसके बच्चे को प्रसव में मदद देने का वचन दिया। उस बच्चे को सावित्री बाई और ज्योतिबा ने गोद ले लिया। उसका नाम यशवंत रखा गया, जो पढ़-लिखकर डॉक्टर बना तथा ज्योतिबा की चिंता को उसी ने अग्नि दी।

इस घटना ने इस युगल के लिए नये क्षितिज खोल दिये। वे हिंदू समाज में विधवाओं की दशा पर चिंतित हुए। उन अनेक विधवाओं को आत्महत्या की ओर धकेलने के लिए वे पुरुष ज़िम्मेदार होते थे जो अपनी वासना की पूर्ति के लिए उनका शोषण करते तथा बाद में उन्हें अकेली छोड़ देते थे। अतः सावित्री बाई और ज्योतिबा फुले ने उन स्त्रियों के लिए स्थापित किए गए 'प्रसूति गृह' का प्रचार सड़क पर बोर्ड लगाकर किया, जिन पर गर्भ लाद दिया गया था। प्रसूति गृह का नाम रखा गया था 'बालहत्या प्रतिबंधक गृह'।

उनका अगला कदम भी इतना ही क्रांतिकारी था। उस ज़माने में छोटी उम्र की लड़कियों का विवाह बूढ़ों के साथ कर दिया जाता था। बुढ़ापे अथवा किसी रोग के कारण पुरुषों की मृत्यु होने पर उनकी पत्नियां अल्पायु में ही विधवा हो जाती थीं। विधवाएं सौंदर्य प्रसाधनों का उपयोग नहीं कर सकती थीं। उनके लिए श्रृंगार करने की मनाही

थी। उनके सिर मुंडवा दिये जाते थे तथा समाज द्वारा उन्हें त्यागपूर्ण जीवन बिताने के लिए विवश किया जाता था। सावित्री बाई और ज्योतिबा का हृदय ऐसी विधवाओं की दयनीय दशा पर द्रवित हो उठा। उन्होंने नाइयों को धिक्कारा तथा नाइयों की हड़ताल का संगठन किया और उन्हें इस बात के लिए तैयार किया कि वे विधवाओं के सिर मुंडन न करें। वह अपने ढंग की पहली और अनूठी हड़ताल थी।

ज्योतिबा और सावित्री बाई समस्त प्रकार के सामाजिक पक्षपात के विरुद्ध थे। वे उन अछूतों को देखकर द्रवित हो उठते थे जिन्हें उस जल से वंचित कर दिया जाता था जो सवर्णों के लिए संरक्षित कर दिया गया था। ज्योतिबा और सावित्री बाई ने अपने घर के भीतर संचित जल भंडार उन लोगों के लिए खोल दिया। उनकी करनी और कथनी में अंतर न था।

सावित्री बाई के भाई ने जब अछूतों तथा अन्य तथाकथित निम्नतर जातियों के साथ घुलने-मिलने के लिए ज्योतिबा की आलोचना की तो सावित्री बाई ने उन्हें एक पत्र लिखा जो अभी तक उपलब्ध है। उन्होंने लिखा : "मुझे अपने पति पर उनके कार्यों के लिए गर्व है। तुम्हें उनकी आलोचना करने की हिम्मत कैसे हुई? तुम अपनी गोद में कुत्ते-बिल्लियों को चढ़ाते हो परंतु मनुष्यों के स्पर्श से तुम्हें लगता है कि तुम अपवित्र हो गए। मेरे पति सच्चे अर्थ में एक महान पुरुष हैं क्योंकि वे अपने सभी साथियों को अपने समान मानते हैं।"

सावित्री बाई अपने पति द्वारा हाथ में ली गयी प्रत्येक गतिविधि में भाग लेती थीं। वे उनके साथ मिलकर कष्ट झेलती थीं तथापि, उनका अपना विशिष्ट व्यक्तित्व था। ज्योतिबा एक महापुरुष थे। उन्होंने जो कुछ सीखा उसका अपने जीवन में पालन किया, दूसरे लोग वैसा नहीं कर पाए। वे भविष्य को देखने में समर्थ थे। उन्होंने दलित वर्ग के उत्थान के लिए अनथक परिश्रम किया। ज्योतिबा फुले ने 1890 में शरीर छोड़ दिया। उनके निधन के पश्चात् सावित्री बाई ने ज्योतिबा फुले द्वारा स्थापित सत्यशोधक मंडल का दायित्व स्वयं संभाल लिया। वे सभाओं की अध्यक्षता और कार्यकर्ताओं का मार्गदर्शन करतीं। उन्होंने प्लेग-पीड़ितों को राहत पहुंचाने के लिए कठोर परिश्रम किया। उन्होंने निर्धन बच्चों के लिए शिविर लगाए। कहा जाता है कि महामारी के दौरान वे प्रतिदिन दो हजार बच्चों को भोजन कराती थीं। इसे नियति का क्रूर व्यंग्य ही कहा जाएगा कि एक बालक की सेवा करते समय प्लेग ने उन्हें अपना शिकार बना लिया और 10 मार्च, 1897 को उनके प्राण ले लिए।

सावित्री बाई की कविताएं और अन्य रचनाएं आज तक दूसरों के लिए प्रेरणादायी हैं। पंडिता रमाबाई के जन्म से दस वर्ष पूर्व पिछड़ी हुई माली जाति में उत्पन्न हुई महिला ने अपने आपको सबसे अधिक क्रांतिकारी और प्रभावशाली रूप में अभिव्यक्त किया। वे प्रथम महिला शिक्षिका, प्रथम महिला शिक्षाविद्, प्रथम कवयित्री तथा महिलाओं की प्रथम मुक्तदात्री थीं। उनके दो काव्य संग्रह प्रकाशित हुए-1934 में 'काव्य फुले' तथा 1982 में 'बावन काशी सुबोध रत्नाकर'।

सावित्री बाई ने यंत्रणाएं न सही होतीं तो भारतीय महिलाओं को समाज में वह स्थान न मिला होता जो आज उन्हें प्राप्त है।

साभार : भारतीय पुनर्जागरण में अग्रणी महिलाएं

प्राचीन भारत के विश्वविद्यालय

■ मुक्तिबोध

...पिछले अंक से जारी

भारतीय संस्कृति की कीर्ति को चारों ओर प्रसारित करने में हमारे प्राचीन विश्वविद्यालयों ने बड़ा काम किया। सभी तत्कालीन शास्त्र तथा विज्ञान वहां पढ़ाये जाते, किन्तु उनका मुख्य बल धर्म तथा दर्शन पर ही था। इन विश्वविद्यालयों का ज्ञान प्राप्त करने से हमें तत्कालीन भारतीय संस्कृति की क्षमताएं और सीमाएं दोनों का ज्ञान हो जाता है।

प्राचीन भारत में ज्ञान और ज्ञानी को उचित सम्मान प्राप्त होता था। ज्ञान-प्रदान का कार्य ब्राह्मणों के हाथ में था। वे गुरुकुलों तथा आश्रमों में शिक्षा प्रदान करते। ये आश्रम, साधारणतः, (किन्तु इसके अपवाद भी हैं) वनों में रहते।

शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार केवल द्विजाति को था। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपने पुत्रों को गुरुओं के पास भेजते। प्रारंभ में, शिक्षा का अधिकार स्त्रियों को भी था।

किन्तु ज्यों-ज्यों राज्यसत्ता का विकास होता गया, त्यों-त्यों स्त्रियों के अधिकार कम होते गये। स्त्री पति की व्यक्तिगत सम्पत्ति बनती गयी। उसकी स्वतंत्रता का भी क्रमशः लोप होता गया। गुप्त काल में, अर्थात् ईसा की चौथी सदी में, स्त्री-स्वातन्त्र्य बहुत-कुछ लुप्त हो गया था। फिर भी स्त्री-शिक्षा की प्राचीन परंपरा किसी-न-किसी अंश में बनी हुई थी।

शूद्रों को शिक्षा का अधिकार बिल्कुल नहीं था। उन्हें न केवल अज्ञान के अंधकार में रखा जाता, वरन् उनमें से कोई महत्वकांक्षी व्यक्ति यदि उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता तो उस पर अत्याचार किये जाते। शूद्रों की संख्या हर्ष काल तक आते-आते बहुत बढ़ गयी थी। भारतीय जन-समाज में, संख्या की दृष्टि से, वे कम नहीं थे। सारा सेवा-कार्य, सब व्यवसाय, वे ही करते। शिल्पी शूद्र ही था, कृषक भी। ये सब अज्ञान के अन्धकार में पड़े हुए थे। जो भी ज्ञान उनके पास था, वह केवल व्यवसाय-संबंधी था। व्यावसायिक शिक्षा का कोई समुचित प्रबंध नहीं था। कला-कारीगरी की तालीम दुकान या कर्मशाला या खेत में बैठकर ही प्राप्त की जा सकती थी। संक्षेप में, जिसे हम उच्चतर शिक्षा कहते हैं, उससे शूद्र वंचित रहा।

इसका दूसरा परिणाम यह हुआ कि वस्तुओं के उत्पादन से संबंधित समस्याओं पर भारत के सुविकसित मस्तिष्क विचार नहीं कर सके, ऐसे मस्तिष्क जो सिद्धान्तों पर सोचा करते हैं। उच्चतर शिक्षा के अभाव में, शिल्पी शूद्र, उच्च धनिकवर्गीय अभिरुचि को तृप्त करने के लिए सुन्दर-से-सुन्दर वस्तुएं बनाता। किन्तु, उनके

निर्माण की प्रक्रियाओं को जानते हुए भी, वह उन प्रक्रियाओं में समाये हुए वैज्ञानिक सिद्धान्तों का आविष्कार न कर सका, उन सिद्धान्तों को खोज नहीं पाया। फलतः उच्चतर शिक्षा के अभाव में, शिल्पी शूद्र के पास सूक्ष्म और अमूर्त चिन्तन की शक्ति नहीं रही!! उधर, सूक्ष्म और अमूर्त बौद्धिक चिन्तन की प्रतिभा रखने वाले मनीषी उत्पादन की प्रक्रियाओं और उत्पादन के केन्द्रों से बहुत दूर थे। उनमें और शिल्पी शूद्र में बहुत फासला था।

हाँ, यह सही है कि हमारे यहां विज्ञान का भी विकास हुआ। किन्तु यह विकास-क्रम बहुत संक्षिप्त है। साथ ही, शिल्प-कार्य की पद्धतियों के संबंध में हमारे यहां ग्रन्थ-रचना नहीं हो सकी। पुराना रंग-मिश्रण किन वस्तुओं से किस प्रकार होता था, दुर्ग-निर्माण किस विधि तथा पद्धति से होते थे-इत्यादि व्यावहारिक बातों के संबंध में हमारे यहां ग्रन्थ-रचना न होने के फलस्वरूप बहुत-सी पुरानी निर्माण-विधियां और विद्याएं लुप्त हो गयीं। आज हम प्राचीन कला-कृतियों को देखकर केवल आश्चर्य ही कर सकते हैं, और कुछ नहीं! वे कला-कृतियां इतनी स्थायी और सुंदर हैं कि इच्छा होती है कि हम उनकी निर्माण-विधियों को जानें। लेकिन जान नहीं पाते। ऐसा क्यों हुआ?

इसके दो कारण थे। एक तो उच्चवर्गीय शिक्षित वर्ग निर्माण-कार्य से बहुत दूर था; और दूसरी ओर, निर्माण-कार्य करने वाले लोग उच्चतर शिक्षा से बहुत दूर थे। एक ओर महान् प्रतिभाशाली ज्ञानी थे-वे सवयं ज्ञान के शिखर थे तो दूसरी ओर शेष जनता अपढ़ थी, वह अज्ञान के अंधकार में डूबी हुई थी। फलतः, उच्च वर्गों में, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और ऊंचे-से-ऊंचे दार्शनिक विचार पाये जाते थे, तो दूसरी ओर, अपढ़ लोगों में जादू-टोना, तन्त्र-मन्त्र; भूत-पिशाच-पूजा भी प्रचलित थी।

प्राचीन शिक्षा का ध्येय : शिक्षा का ध्येय ज्ञान-दान तथा चरित्र-निर्माण-दोनों एक साथ थे। सांस्कृतिक तथा नैतिक परम्पराओं को जारी रखना उनका प्रमुख लक्ष्य था। उन दिनों गुरु चरित्रवान थे तथा शिष्य भी। गुरु-शिष्य-सम्बन्ध आज से भिन्न था। गुरु मार्गद्रष्टा था। शिष्य को उसके प्रति श्रद्धा रखना और उसकी सेवा करना आवश्यक था।

पाठ्यक्रम : पाठ्यक्रम में वैदिक साहित्य, दर्शनशास्त्र, तर्कशास्त्र, व्याकरण और उनके अतिरिक्त, शस्त्रविद्या, चिकित्सा तथा प्रशासन की कला भी शामिल थी। पूरा पाठ्यक्रम लगभग 12 वर्ष का होता। शिक्षण-पद्धति के अंतर्गत, पठन, पुनरावृत्ति, स्मरण,

वाद-विवाद और शास्त्रार्थ भी सम्मिलित थे।

तक्षशिला : प्राचीनकाल के गान्धार देश में तक्षशिला विश्वविद्यालय का बड़ा नाम था। अनेक देशों और प्रान्तों के विद्यार्थी वहाँ पढ़ने आते थे। वहाँ 68 विषय पढ़ाये जाते थे। धनिक वर्ग के विद्यार्थी फीस चुकाते। गरीब वर्ग के विद्यार्थी सेवा करते। वहाँ कई हजार विद्यार्थी पढ़ते और सैकड़ों विख्यात शिक्षक थे। कई इतिहासप्रसिद्ध पुरुषों ने वहाँ शिक्षा ग्रहण की। तक्षशिला भारत का प्राचीनतम विश्वविद्यालय है। यह ईसा के जन्म के 700 साल पहले प्रारंभ हुआ और ईसा के जन्म के 300 साल पहले तक विद्यमान था।

वाराणसी : तक्षशिला के लुप्त हो जाने पर, वाराणसी विद्या का विशाल केन्द्र हुआ। वहाँ ब्राह्मण साहित्य तथा संस्कृत विद्या पढ़ाई जाती।

नालन्दा : गुप्त काल में नालन्दा विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। पटना के निकट बरगाँव नामक स्थान पर यह स्थापित किया गया था। यह महायानपंथी बौद्ध विश्वविद्यालय था। इस विश्वविद्यालय में व्याख्यान, अध्ययन-गोष्ठियों, विचार-विनिमयों, वाद-विवादों तथा शास्त्रार्थ द्वारा शिक्षा दी जाती थी। यहाँ बौद्ध मत के सभी विचार-संप्रदायों के अतिरिक्त, मन्त्र-विद्या, ज्योतिष पढ़ाया जाता था। यह एक अत्यन्त भव्य और विशाल विश्वविद्यालय था। इसमें लगभग 10 हजार शिक्षक तथा विद्यार्थी थे। शिक्षकों की संख्या एक हजार से ऊपर थी। उनमें बौद्ध धर्म के महान् विद्वान्, जैसे धर्मकीर्ति, शीलभद्र, शान्तरक्षित, पद्मसंभव तथा गुणमति विद्यमान थे।

नालन्दा का खर्च अनेक राजाओं, धनिकों व्यापारियों तथा सुमात्रा जैसे दूर-दूर के देशों की सहायता से चलता था। विश्वविद्यालय के पास अपने खर्च के लिए 200 से अधिक गांव थे।

शान्तरक्षित तथा पद्मसंभव जैसे लोग, आगे चलकर, तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार करने गये। उसी प्रकार नालन्दा में विदेशों से आये हुए लोगों में त्रिपिटकाचार्य, हुएनत्सांड, हु, एन चिड, हु ली, तांग, ताओ सिड्, आर्यवर्मन तथा पुद्धधर्म जैसे महान् पण्डित थे।

नालन्दा में ज्योतिष की पढ़ाई के लिए छोटी-बड़ी वेधशालाएं भी थीं, अनेक ग्रन्थालय भी थे। ग्रन्थों की संख्या लगभग एक लाख थी।

वलभी : मैत्रक वंश के राजाओं ने अपने यहाँ (सौराष्ट्र) में बौद्ध मत तथा अन्य पन्थों के अध्ययन के लिए, वलभी विश्वविद्यालय स्थापित किया। इसमें अन्य विषय भी पढ़ाये जाते थे। इसके पास बहुत बड़ा ग्रन्थालय था।

विक्रमशिला : यह उत्तरी मगध में स्थित था। इसमें तिब्बती बौद्ध धर्म का अध्ययन होता था। इस विश्वविद्यालय ने अपने अनेक पण्डित धर्म-प्रचार के लिए तिब्बत भेजे थे। तिब्बत में भारतीय संस्कृति के विस्तार में विक्रमशिला विश्वविद्यालय का बहुत योगदान है।

ओदान्तपुरी : विक्रमशिला विश्वविद्यालय पालवंश के राजाओं ने खुलवाया था। उसी प्रकार, आठवीं सदी में उन्होंने पाटलिपुत्र के निकट ओदान्तपुरी में एक विशाल शिक्षा-केन्द्र स्थापित किया। यहाँ तान्त्रिक साहित्य का विशेष रूप से अध्ययन होता था।

जागरल : यह विश्वविद्यालय थोड़े दिनों तक रहा। बंगाल के राजा रामपाल ने इसे वरेन्द्र प्रदेश में गंगा और करतोय नदी के संगम पर बनवाया था।

इन विश्वविद्यालयों ने भारतीय सांस्कृतिक परंपरा को जीवित रक्खा; उसका प्रसार किया। साथ ही, उन्होंने भारतीय आदर्श, जीवन-नीति, अर्थात् भारतीय संस्कृति का प्रचार-प्रसार दूर-दूर के देशों में किया।

ये गुरुकुल धर्म तथा दर्शन के केन्द्र थे। औद्योगिक कलाएं यहाँ नहीं सिखायी जाती थीं। शिल्पी-श्रेणी संघ में ही व्यक्ति को औद्योगिक कला (कार्य तथा अनुभव द्वारा) सिखाई जाती थी।

मुख्य दोष : अपनी सारी उच्चता और श्रेष्ठता के बावजूद, उस काल की शिक्षा-व्यवस्था में बहुत बड़ा दोष यह था कि सामान्य जनता इन विश्वविद्यालयों का लाभ नहीं उठा पाती थी। एक ओर प्रकाण्ड विद्वता के नभ-चुम्बी शिखर थे तो दूसरी ओर अपढ़ और निरक्षर जनता का व्यापक समुदाय था। इन विश्वविद्यालयों में औद्योगिक कलाएं नहीं पढ़ायी जाती थीं। सूक्ष्म बौद्धिक चिन्तन को, औद्योगिक कला के लक्ष्यों से समन्वित नहीं किया गया। फलतः, हमारे यहाँ विज्ञान का सर्वांगीण तथा उत्तरोत्तर विकास नहीं हो सका-विज्ञान के विकास की परम्परा हमारे यहाँ नहीं बन पायी।

मध्य युग तक आते-आते पुराने विश्वविद्यालय नष्ट हो गये। पाठशालाएं मन्दिरों में कायम हुईं। शिक्षा तथा ज्ञान दोनों रुढ़िबद्ध हो गये। विचार-स्वातन्त्र्य नष्ट हो गया। सारा ध्यान संस्कृत की शिक्षा की ओर था। फलतः, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं का व्यापक अध्ययन नहीं हो पाया।

लोकोन्मुख शिक्षा-पद्धति के लिए, विज्ञान-प्रमुख शिक्षा-व्यवस्था के लिए, भारत को आधुनिक काल के उदय की प्रतीक्षा करनी थी। सो, उसने की।

...क्रमशः जारी

साभार : मुक्तिबोध रचनावली, भाग 6

isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,

62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन 011-26177904, 46025219 टेलीफैक्स 011-26177904,

ईमेल : notowar.isd@gmail.com / notowar@rediffmail.com / वेबसाइट : www.isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए